भगवान श्री कुंद कुंद—कहान जैन शास्त्रमाळा

पुष्प ९५

अध्यात्म-प्रेमी पण्डित कविवर श्री. दौलतरामजी कृत

छहढाला

[सटीक]

(गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद)

अनुवादक—
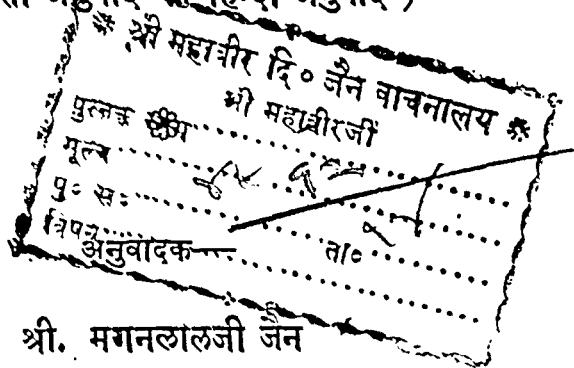
श्री. मगनलालजी जैन

卐 卐

प्रकाशक

श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ (सौराष्ट्र)

प्रकाशक—

श्री. नवनीतलाल सी. झवेरी

प्रमुख, स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

❀

मुद्रक—

लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी,

निर्णयसागर प्रेस, २६–२८ डॉ. एम्. बी.
वेलकर स्ट्रीट, बम्बई २

ॐ

प्रकाशकीय निवेदन

अध्यात्मप्रेमी कविवर पं. दौलतरामजी कृत यह छहढाला का अर्थ गुजराती में सोनगढ स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के भूतपूर्व प्रमुख श्री. रामजीभाई माणेकचंद दोशी ने संपादित किया था। और हिंदी में भी अनेक आवृत्तियां निकल चुकीं हैं। इस आवृत्ति में प्रकरण के अनुसार भावपूर्ण तथा बालसुबोध चित्र अंकित किये गये हैं। इस आवृत्ति की यह विशेष नवीनता है जिससे पाठकोंको अभ्यासमें सुगमता होगी।

सोनगढ में प्रतिवर्ष शिक्षणवर्ग में और अनेक जगह पाठशालाओं में यह पुस्तक पढाई जाती है और इसका-सामूहिक स्वाध्याय भी कई जगह होती है. श्रीमान् नवनीतभाई जवेरी (बम्बई) जो कि श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ के प्रमुख भी हैं, उनको इस पुस्तक के प्रचार का व बालसाहित्य का खास प्रेम है। इसलिये दक्षिण तीर्थयात्रा के समय, वलसाड, भिवंडी, बेलगांव, जलगांव और दाहोद स्थित अमलगमेटेड इलेक्ट्रिक कं. के पावरहाऊस में जब आत्मज्ञ संत पू. श्री. कानजी स्वामी का पदार्पण हुवा था तब उसका हर्षोपलक्ष में उन्हों ने ज्ञानप्रचारार्थ जो बडी रक्कम का दान जाहीर किया था उसमें से जैन बालपोथी हिन्दी की १०००० प्रतियां "जैनमित्र" तथा "सन्मतिसंदेस" के ग्राहकों को तथा बालपोथी (मराठी) २००० प्रतियां और छहढाला (मराठी) सचित्र प्रतियां ३००० महाराष्ट्रमें सन्मति मासिक के ग्राहकों को तथा अन्य संस्थाओं को विनामूल्य भेट दी जा चुकी

है। अभी यह सचित्र हिन्दी छहढाला की भी १०००० प्रतियां "जैनमित्र" और सन्मतिसंदेस के ग्राहकों को विनामूल्य भेट दी जा रही है। साहित्य प्रचारकी उदार भावनासे प्रेरित होकर माननीय श्री. नवनीतलाल भाई जवेरी जो धर्मप्रचार निमित्त ठोस कार्य कर रहे हैं वह अतीव सराहनीय हैं और इसलिये संस्था आपका हार्दिक अभिनंदन के साथ आभार मानती है।

यह आवृत्ति छपानेमें श्री. हिंमतलाल छोटालाल, डॉ. विद्याचंदजी शहा, श्री. मनसुखलाल देसाई (सोनगढ) ब्र. श्री. हरिलाल जैन तथा श्री. कांतिलाल हरिलाल शाह ने प्रेमपूर्वक सहायता की है अतः संस्था उन सब महानुभावों की भी आभारी है।

खीमचंद जेठालाल शेठ
श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ. (साहित्य विभाग)

मूल ग्रंथकर्ता का कुछ परिचय

श्री. पं० दौलतरामजी अलीगढ के समीप सासनी के रहनेवाले थे, पीछे अलीगढ में रहते थे। वे पल्लीवाल जाति के नर-रत्न थे। धर्म तत्त्वके अच्छे ज्ञात थे। उन्होंने परमार्थ जकडी, फुटकर अनेक पद तथा प्रस्तुत ग्रंथ छहढाला का निर्माण किया है। अपनी कविता में सरल ललित शब्दों द्वारा सागर को गागर में भरने का प्रयत्न किया है। उनके शब्द रुचिर हैं, भाव उल्लास देनेवाला है। उनके पदोंका भाव मनन करने योग्य है, जो कि जैन सिद्धान्तके जिज्ञासुओं के लिये बहुत उपयोगी है।

इस ग्रंथ का निर्माण विक्रम सं० १८९१ में हुआ है, इसकी उपयोगिता का अनुभव करके इसको प्रायः सभी जैन पाठशालाओं और जैन परीक्षालयों के पठन क्रममें स्थान दिया गया है। सर्व सज्जनों से मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रंथ का सर्वत्र प्रचार हो और आत्महित में अग्रसर होनेके प्रयत्न में सावधान रहें।

निवेदकः—

नवनीतलाल सी. झवेरी

भूमिका

कविवर पण्डित दौलतरामजी कृत "छहढाला" जैन समाज में भलीभाँति प्रचलित है। अनेक भाई-बहन उसका नित्य पाठ करते हैं। जैन पाठशालाओं की वह एक पाठ्य-पुस्तक है। ग्रंथकार ने संवत् १८९१ की वैशाख शुक्ला ३, (अक्षय-तृतीया) के दिन इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रंथ में धर्म का स्वरूप संक्षेप में भलीभांति समझाया गया है; और वह भी ऐसी सरल-सुबोध भाषा में कि बालक से लेकर वृद्ध तक सभी सरलतापूर्वक समझ सकें।

इस ग्रन्थ में छहढालें (छह प्रकरण) हैं, उनमें आनेवाले विषयों का वर्ण यहाँ संक्षेप में किया जाता है—

जीव की अनादिकालीन सात भूलें

इस ग्रन्थ की दूसरी ढाल में जीव की अनादि से चली आ रही सात भूलोंका स्वरूप दिया गया है; वह संक्षेप में निम्नानुसार है:—

(१) "शरीर है सो मैं हूँ,"–ऐसा यह जीव अनादिकाल से मान रहा है; इसलिये मैं शरीर के कार्य कर सकता हूँ;"–शरीर का हलन-चलन मुझसे होता है; शरीर निरोग हो तो मुझे लाभ हो;– इत्यादि प्रकार से वह शरीर को अपना मानता है, यह महान् भ्रम है। यह जीवतत्त्व की भूल है, अर्थात् वह जीव को अजीव मानता है।

(२) शरीर की उत्पत्ति से वह जीव का जन्म और शरीर के वियोग से जीव का मरण मानता है; यानी अजीव को जीव मानता है। यह अजीवतत्त्व की भूल है।

(३) मिथ्यात्व, रागादि प्रगट दुःख देनेवाले हैं, तथापि उनका सेवन करने में सुख मानता है; यह आस्रवतत्त्व की भूल है।

(४) वह शुभ को इष्ट (लाभदायी) तथा अशुभ को अनिष्ट (हानिकारक) मानता है; किन्तु तत्त्वदृष्टि से वे दोनों अनिष्ट (हानिकारक) हैं—ऐसा नहीं मानता। वह बन्धतत्त्व की भूल है।

(५) सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान सहित वैराग्य जीव को सुखरूप है, तथापि उन्हें कष्टदायक और समझ में न आये ऐसा मानता है। वह संवरतत्त्व की भूल है।

(६) शुभाशुभ इच्छाओं को न रोककर इन्द्रियविषयों की इच्छा करता रहता है, वह निर्जरातत्त्व की भूल है।

(७) सम्यग्दर्शनपूर्वक ही पूर्ण निराकुलता प्रगट होती है और वही सच्चा सुख है;—ऐसा न मानकर वह जीव बाह्य सुविधाओं से सुख मानता है, वह मोक्षतत्त्व की भूल है।

उपरोक्त भूलों का फल

इस ग्रन्थ की पहली ढाल में इन भूलों का फल बतलाया है। इन भूलों के फलस्वरूप जीव को प्रतिसमय-बारम्बार अनन्त दुःख भोगना पड़ता है अर्थात् चारों गतियों में मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारकी के रूप में जन्म—मरण करके दुःख सहता है। लोग देवगति में सुख मानते हैं, किन्तु वह भ्रमणा है—मिथ्या है। पन्द्रहवें तथा सोलहवें छन्द में उसका स्पष्ट वर्णन किया है। [संयोग अनुकूल प्रतिकूल, इष्ट—अनिष्ट नहीं है तथा संयोग से किसीको सुख—दुःख हो ऐसा नहीं है। किन्तु उलटा पुरुषार्थ से जीव भूल करता है। उसीके कारण दुःखी होता है। और सच्चे पुरुषार्थ से भूलको हटाकर सम्यक् श्रद्धा ज्ञान और स्वानुभव को करता है। इसीसे सुखी होता है। तीनों काल यह बात है।]

इन गतियों में मुख्य गति निगोद—एकेन्द्रिय—की है; संसारदशा में जीव अधिक से अधिक काल उसमें व्यतीत करता है। उस अवस्था को टालकर दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय की पर्याय प्राप्त करना दुर्लभ है

और उसमें भी मनुष्य भव की प्राप्ति तो अति अति-दीर्घकाल में होती है अर्थात् जीव मनुष्यभव शायद और नहिंवत् प्राप्त कर पाता है।

धर्म प्राप्त करने का समय

जीव को धर्म प्राप्ति का मुख्य काल मनुष्यभाव का है। यदि यह जीव धर्मको समझना प्रारम्भ कर दे तो सदा के लिये दुःख दूर कर सकता है; किन्तु मनुष्य पर्याय में भी या तो धर्म का यथार्थ विचार नहीं करता, या फिर धर्म के नाम पर चलनेवाली अनेक मिथ्या मान्यताओंमें से किसी न किसी मिथ्या मान्यता को ग्रहण करके कुदेव, कुगुरु तथा कुशास्त्र के चक्रमें फँस जाता है, अथवा तो "सर्व धर्म समान हैं"— ऐसा ऊपरी दृष्टिसे मानकर समस्त धर्मों का समन्वय करने लगता है और अपनी भ्रमबुद्धि को विशालबुद्धि मानकर अभिमानका सेवन करता है। कभी वह जीव सुदेव, सुगुरु और सुशास्त्रका बाह्यस्वरूप समझता है, तथापि अपने सच्चे स्वरूपको समझने का प्रयास नहीं करता, इसलिये पुनः पुनः संसार सागर में भटककर अपना महान् काल निगोदगति—एकेन्द्रिय पर्याय—में व्यतीत करता है।

मिथ्यात्व का महापाप

उपरोक्त भूलों का मुख्य कारण अपने स्वरूपकी भ्रमणा है। परका मैं कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकता है; परसे मुझे लाभ या हानि होते हैं—ऐसी मिथ्या मान्यता का नित्य अपरिमित महापाप जीव प्रतिक्षण सेया करता है; उस महापाप को शास्त्रीय परिभाषा में मिथ्यादर्शन कहा जाता है। मिथ्यादर्शन के फल स्वरूप जीव क्रोध, मान, माया, लोभ—जो कि परिमित पाप हैं—उनका तीव्र या मन्दरूप से सेवन करता है। जीव क्रोधादिक को पाप मानते हैं, किंतु उनका मूल तो मिथ्यादर्शनरूप महापाप है, उसे वे नहीं जानते; तो फिर उसका निवारण कैसे करें?

वस्तु का स्वरूप

वस्तुस्वरूप कहो या जैनधर्म—दोनों एक ही हैं! उनकी विधि ऐसी है कि—पहले बड़ा पाप छुड़वाकर फिर छोटा पाप छुड़वाते हैं; इसलिये बड़ा पाप क्या और छोटा पाप क्या–उसे प्रथम समझने की आवश्यकता है।

जगत में सात व्यसन पापबन्ध के कारण माने जाते हैं—जुआ, मांसभक्षण, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार, परस्त्री-सेवन तथा चोरी; किन्तु इन व्यसनोंसे भी बढ़कर महापाप मिथ्यात्व का सेवन है; इसलिये जैनधर्म सर्व प्रथम मिथ्यात्व को छोडने का उपदेश देता है। किन्तु अधिकांश उपदेशक, प्रचारक और अगुरु मिथ्यात्व के यथार्थ स्वरूप से अनजान हैं; फिर वे महापापरूप मिथ्यात्व को टालने का उपदेश कहाँ से दे सकते हैं? वे "पुण्य"को धर्म में सहायक मानकर उसके उपदेश को मुख्यता देते हैं, और इसप्रकार धर्म के नाम पर महा मिथ्यात्वरूपी पाप का अव्यक्तरूप से पोषण करते हैं। जीव इस भूल को टाल सके इस हेतु इसकी तीसरी तथा चौथी ढाल में सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का स्वरूप दिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि जीव शुभ के बदले अशुभ भाव करे, किन्तु शुभभाव को यथार्थ में धर्म अथवा धर्म में सहायक नहीं मानना चाहिये। यद्यपि नीचली दशा में शुभभाव हुए बिना नहीं रहता, किन्तु उसे सच्चा धर्म मानना वह मिथ्यात्वरूप महापाप है।

सम्यग्दृष्टि की भावना

पाँचवीं ढाल में बारह भावनाओं का स्वरूप दर्शाया गया है। ये भावनाएँ सम्यग्दृष्टि जीवको ही यथार्थ होती हैं।

और उसमें भी मनुष्य भव की प्राप्ति तो अति अति-दीर्घकाल में होती है अर्थात् जीव मनुष्यभव शायद और नहिंवत् प्राप्त कर पाता है।

धर्म प्राप्त करने का समय

जीव को धर्म प्राप्ति का मुख्य काल मनुष्यभाव का है। यदि यह जीव धर्मको समझना प्रारम्भ कर दे तो सदा के लिये दुःख दूर कर सकता है; किन्तु मनुष्य पर्याय में भी या तो धर्म का यथार्थ विचार नहीं करता, या फिर धर्म के नाम पर चलनेवाली अनेक मिथ्या मान्यताओंमें से किसी न किसी मिथ्या मान्यता को ग्रहण करके कुदेव, कुगुरु तथा कुशास्त्र के चक्रमें फँस जाता है, अथवा तो "सर्व धर्म समान हैं"— ऐसा ऊपरी दृष्टिसे मानकर समस्त धर्मों का समन्वय करने लगता है और अपनी भ्रमबुद्धि को विशालबुद्धि मानकर अभिमानका सेवन करता है। कभी वह जीव सुदेव, सुगुरु और सुशास्त्रका बाह्यस्वरूप समझता है, तथापि अपने सच्चे स्वरूपको समझने का प्रयास नहीं करता, इसलिये पुनः पुनः संसार सागर में भटककर अपना महान् काल निगोदगति—एकेन्द्रिय पर्याय—में व्यतीत करता है।

मिथ्यात्व का महापाप

उपरोक्त भूलों का मुख्य कारण अपने स्वरूपकी भ्रमणा है। परका मैं कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकता है; परसे मुझे लाभ या हानि होते हैं—ऐसी मिथ्या मान्यता का नित्य अपरिमित महापाप जीव प्रतिक्षण सेवा करता है; उस महापाप को शास्त्रीय परिभाषा में मिथ्यादर्शन कहा जाता है। मिथ्यादर्शन के फल स्वरूप जीव क्रोध, मान, माया, लोभ—जो कि परिमित पाप हैं—उनका तीव्र या मन्दरूप से सेवन करता है। जीव क्रोधादिक को पाप मानते हैं, किंतु उनका मूल तो मिथ्यादर्शनरूप महापाप है, उसे वे नहीं जानते; तो फिर उसका निवारण कैसे करें?

वस्तु का स्वरूप

वस्तुस्वरूप कहो या जैनधर्म—दोनों एक ही हैं! उनकी विधि ऐसी है कि—पहले बड़ा पाप छुड़वाकर फिर छोटा पाप छुड़वाते हैं; इसलिये बडा पाप क्या और छोटा पाप क्या—उसे प्रथम समझने की आवश्यकता है।

जगत में सात व्यसन पापबन्ध के कारण माने जाते हैं—जुआ, मांसभक्षण, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार, परस्त्री-सेवन तथा चोरी; किन्तु इन व्यसनोंसे भी बढ़कर महापाप मिथ्यात्व का सेवन है; इसलिये जैनधर्म सर्व प्रथम मिथ्यात्व को छोडने का उपदेश देता है। किन्तु अधिकांश उपदेशक, प्रचारक और अगुरु मिथ्यात्व के यथार्थ स्वरूप से अनजान हैं; फिर वे महापापरूप मिथ्यात्व को टालने का उपदेश कहाँ से दे सकते हैं? वे "पुण्य"को धर्म में साहायक मानकर उसके उपदेश को मुख्यता देते हैं, और इसप्रकार धर्म के नाम पर महा मिथ्यात्वरूपी पाप का अव्यक्तरूप से पोषण करते हैं। जीव उस भूल को टाल सके इस हेतु इसकी तीसरी तथा चौथी ढाल में सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का स्वरूप दिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि जीव शुभ के बदले अशुभ भाव करे, किन्तु शुभभाव को वास्तव में धर्म अथवा धर्म में साहायक नहीं मानना चाहिये। यद्यपि नीचली दशा में शुभभाव हुए विना नहीं रहता, किन्तु उसे सच्चा धर्म मानना वह मिथ्यात्वरूप महापाप है।

सम्यग्दृष्टि की भावना

पाँचवीं ढाल में बारह भावनाओं का स्वरूप दर्शाया गया है। वे भावनाएँ सम्यग्दृष्टि जीवको ही यथार्थ होती हैं।

सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीवको ही यह बारह प्रकार की भावनाएँ होतीं हैं; उनमें जो शुभभाव होता है, उसे वे धर्म नहीं मानते. किन्तु बन्ध का कारण मानते हैं। जितना राग दूर होता है, तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान की जो दृढता होती है, उसे वे धर्म मानते हैं; तथा इसलिये उनके संवर निर्जरा होती है। अज्ञानी जन तो शुभभाव को धर्म अथवा धर्म में सहायक मानते हैं, इसलिये उन्हें सच्ची भावना नहीं होती।

सम्यक् चारित्र तथा महाव्रत

सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहे उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है। स्वरूप में स्थिर न रह सके, तब उसे शुभभावरूप अणुव्रत या महाव्रत होते हैं, किन्तु उनमें होनेवाले शुभभावको वे धर्म नहीं मानते।—आदि का वर्णन छठवीं ढाल में किया है।

द्रव्यार्थिकनय से निश्चय का स्वरूप तथा उसके आश्रय से होनेवाली शुद्ध पर्याय

आत्मा का स्वभाव त्रिकाली शुद्ध अखण्ड चैतन्यमय है,—वह सम्यग्दर्शन का तथा निश्चयनय का विषय होनेसे द्रव्यार्थिकनय द्वारा उस त्रिकाली शुद्ध अखण्ड चैतन्य स्वरूप आत्मा को 'निश्चय' कहा जाता है, आत्मा का वह त्रिकाली सामान्यस्वभाव द्रव्यार्थिक-नय से आत्मा का स्वरूप है; उस त्रैकालिक शुद्धता की ओर उन्मुखता से जीव की जो शुद्ध पर्याय प्रगट होती है उसे "व्यवहार" कहा जाता है, वह सद्भूत व्यवहार है; और अपनी वर्तमान पर्यायमें जो विकार का अंश रहता है वह पर्याय असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। असद्भूतव्यवहार जीव का परमार्थस्वरूप न होनेसे दूर हो सकता है और इसलिये निश्चयनय से वह जीव का स्वरूप नहीं है—ऐसा समझना।

पर्यायार्थिकनय से निश्चय और व्यवहार का स्वरूप अथवा निश्चय तथा व्यवहार पर्याय का स्वरूप

उपरोक्त स्वरूपको न जाननेवाले जीव ऐसा मानते हैं कि शुभ करते-करते धर्म (शुद्धता) होता है; तथा वे शुभ को व्यवहार मानते हैं और व्यवहार करते-करते भविष्य में निश्चय (शुद्धभाव—धर्म) हो जायेगा ऐसा मानते हैं—यह एक महान् भूल है; इसलिये उसका सच्चा स्वरूप यहाँ संक्षेप में दिया जाता है—

सम्यग्दृष्टि जीवको निश्चय (शुद्ध) और व्यवहार (शुभ) ऐसी चारित्र की मिश्र पर्यायें नीचली दशा में एक ही समय होती हैं। किसी समय निश्चय (शुद्धभाव) मुख्यरूप से होता है और कभी व्यवहार (शुभभाव) मुख्यरूप से होता है। इसका अर्थ ऐसा है कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूपमें स्थिर रहे उसका नाम निश्चयपर्याय (शुद्धता) है; और जब उसमें स्थिर न रह सके तब भी स्वसन्मुखता को मुख्य रखकर अशुभभाव को दूर करके शुभ में रहे तथा उस शुभ को धर्म न माने, उसे व्यवहारपर्याय (शुभपर्याय) कहा जाता है; क्योंकि उस जीव को अल्प समय में शुभपर्याय दूर होकर शुद्धपर्याय प्रगट होती है।—इस अपेक्षा को लक्षमें रखकर व्यवहार साधक तथा निश्चय साध्य—ऐसा पर्यायार्थिक नयसे कहा जाता है; उसका अर्थ ऐसा है कि सम्यग्दृष्टि की शुभपर्याय दूर होकर क्रमशः शुद्ध पर्याय होती जाती है। यह दोनों पर्यायें होनेसे वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। इस ग्रन्थ में कुछ स्थानों पर निश्चय और व्यवहार शब्दों का प्रयोग किया गया है, वहाँ उनका अर्थ इसीप्रकार समझना चाहिये। व्यवहार (शुभभाव) का व्यय वह साधक और निश्चय (शुद्धभाव) का उत्पाद वह साध्य—ऐसा उनका अर्थ होता है; उसे संक्षेप में "व्यवहार साधक और निश्चय साध्य"—ऐसा पर्यायार्थिकनय से कहा जाता है।

अन्य विषय

इस ग्रन्थ में वहिरात्मा, अन्तारात्मा तथा परमात्मा आदि विषयों का स्वरूप दिया गया है। वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि का दूसरा नाम है; क्योंकि वाह्य संयोग–वियोग, शरीर, राग, देव–गुरु–शास्त्र आदि से अपने को परमार्थतः लाभ होता है–ऐसा वह मानता है। अन्तर-आत्मा सम्यग्दृष्टि का दूसरा नाम है; क्योंकि वह मानता है कि अपने अन्तरसे ही अर्थात् अपने त्रैकालिक शुद्ध चैतन्य स्वरूपके आश्रयसे ही अपने को लाभ हो सकता है। परमात्मा वह आत्मा की सम्पूर्ण शुद्ध दशा है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विषय इस ग्रन्थ में लिये गये हैं; उन सवको सावधानी–पूर्वक समझना आवश्यक है।

पाठकों से निवेदन

पाठकों को इस ग्रन्थका सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करना चाहिये; क्योंकि सत् शास्त्र का धर्मवुद्धि पूर्वक अभ्यास वह सम्यग्दर्शन का कारण है। इसके उपरान्त शास्त्राभ्यास में निम्नोक्त वातों का ध्यान रखना चाहिये:—

(१) सम्यग्दर्शनसे ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

(२) सम्यग्दर्शन प्राप्त किये विना किसी भी जीवको सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि नहीं होते; क्योंकि वह क्रिया प्रथम पाँचवें गुणस्थान में शुभभावरूपसे होती है।

(३) शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को होता है; किन्तु अज्ञानी उससे धर्म होगा, हित होगा ऐसा मानता है; और ज्ञानी की दृष्टि में हेय होनेसे वह उससे कदापि हितरूप धर्म का होना नहीं मानता।

(४) इससे ऐसा नहीं समझना कि धर्मी को शुभभाव होता ही नहीं; किन्तु वह शुभभाव को धर्म अथवा उससे क्रमशः धर्म होगा ऐसा नहीं मानता; क्योंकि अनन्त वीतरागदेवों ने उसे बन्ध का कारण कहा है ।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर नहीं सकता; उसे परिणमित नहीं कर सकता; प्रेरणा नहीं कर सकता; लाभ-हानि नहीं कर सकता; उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता; उसकी सहायता या उपकार नहीं कर सकता; उसे मार या जिला नहीं सकता—ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की सम्पूर्ण स्वतंत्रता अनन्त ज्ञानियों ने पुकार-पुकार कर कही है ।

(६) जिनमतमें तो ऐसी परिपाटी है कि प्रथम सम्यक्त्व और फिर व्रतादि होते हैं । अब, सम्यक्त्व तो स्व-परका श्रद्धान होने पर होता है, तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है। इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि-बनना चाहिये ।

(७) पहले गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों को शास्त्राभ्यास, अध्ययन-मनन, ज्ञानी पुरुषों का धर्मोपदेश-श्रवण, निरन्तर उनका समागम, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दान आदि शुभभाव होते हैं किन्तु पहले गुणस्थान में सच्चे व्रत, तप आदि नहीं होते ।

ऊपरी दृष्टि से देखनेवालों को निम्नोक्त दो शंकाएँ होने की सम्भावना है—

(१) ऐसे कथन सुनने या पढ़ने से लोगों को अत्यन्त हानि होना सम्भव है । (२) इस समय लोग जो कुछ व्रत, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमणादिक क्रियाएँ करते हैं उन्हें छोड़ देंगे ।

उसका स्पष्टीकरण यह है:—

सत्यसे किसी भी जीव को हानि होगी—ऐसा कहना ही भूलयुक्त है, अथवा असत् कथन से लोगों को लाभ मानने के बराबर है। सत्का श्रवण या अध्ययन करने से जीवों को कभी हानि हो ही नहीं सकती। व्रत-प्रत्याख्यान करनेवाले ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी,- यह जानना आवश्यक है। यदि वे अज्ञानी हों तो उन्हें सच्चे व्रतादि होते ही नहीं, इसलिये उन्हें छोड़ने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यदि व्रत करनेवाले ज्ञानी होंगे तो छद्मस्थदशा में वे व्रत का त्याग करके अशुभ में जायेंगे—ऐसा मानना न्यायविरुद्ध है। परन्तु ऐसा हो सकता है कि वे क्रमशः शुभभावको टालकर शुद्धभाव की वृद्धि करें.... और वह तो लाभ का कारण है-हानि का नहीं। इसलिये सत्य कथन से किसी को हानि हो ही नहीं सकती।

जिज्ञासुजन विशेष स्पष्टता से समझ सकें-इस बात को लक्ष में रखकर श्रीब्रह्मचारी गुलाबचन्दजी ने मूल गुजराती पुस्तक में यथासम्भव शुद्धि-वृद्धि की है। अन्य जिन- जिन बन्धुओं ने इस- ार्य में सहयोग दिया है उन्हें हार्दिक धन्यवाद!

यह पुस्तक गुजराती पुस्तकका अनुवाद है। यह अनुवाद श्री- मगनलालजी जैन (वल्लभ विद्यानगर) ने किया है [जो हमारी संस्था के कई ग्रंथों के और आत्मधर्म पत्र के अनुवादक हैं] अच्छी तरह अनुवाद करने के लिये उन्हें धन्यवाद।

श्रीवर्द्धमान जयन्ती,
वीर सं० २४८७
वि० सं० २०१७
सोनगढ (सौराष्ट्र)

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख—
श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

विषय सूची

तीसरी ढाल ५२–९२

चौथी ढाल ९३–१२७

* श्रीसद्गुरुदेवाय नमः *

अध्यात्मप्रेमी कविवर पं० दौलतरामजी कृत,

छहढाला

(सुबोध टीका)
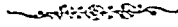
❀ पहली ढाल ❀

—मंगलाचरण—

(सोरठा)

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता;
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(वीतराग) रागद्वेष रहित, (विज्ञानता) केवलज्ञान (तीन भुवनमें) तीन लोक में (सार) उत्तम वस्तु (शिवस्वरूप) आनन्दस्वरूप [और] (शिवकार) मोक्ष प्राप्त करानेवाला है; उसे मैं (त्रियोग) तीन योग से (सम्हारिकैं) सावधानी पूर्वक (नमहुँ) नमस्कार करता हूँ।

नोटः—इस ग्रन्थ में सर्वत्र ( ) यह चिह्न मूल ग्रन्थ के पद का है और [ ] इस चिह्न का प्रयोग संधि मिलाने के लिये किया गया है।
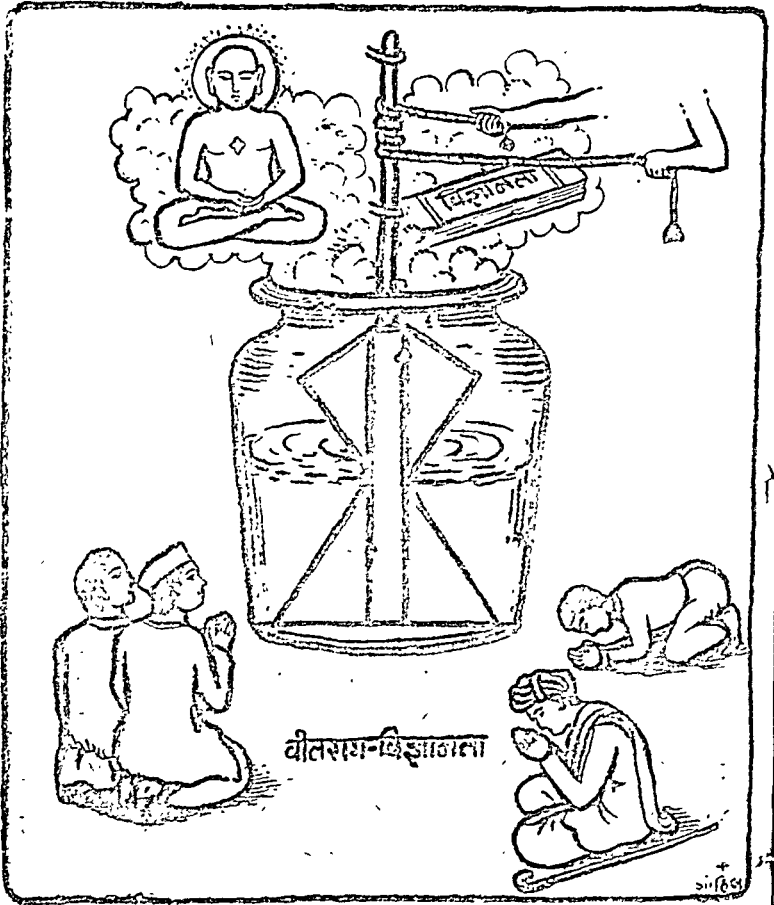
भावार्थः—रागद्वेषरहित "केवलज्ञान" ऊर्ध्व, मध्य और अधो-इन तीन लोकोंमें उत्तम, आनन्दस्वरूप तथा मोक्षदायक है,

इसलिये मैं (दौलतराम) अपने त्रियोग अर्थात् मन-वचन-काय द्वारा सावधानी पूर्वक उस वीतराग (१८ दोष रहित) स्वरूप केवलज्ञान को नमस्कार करता हूँ । १ ।

ग्रन्थ रचना का उद्देश और जीवों की इच्छा

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त,
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार ॥ २ ॥
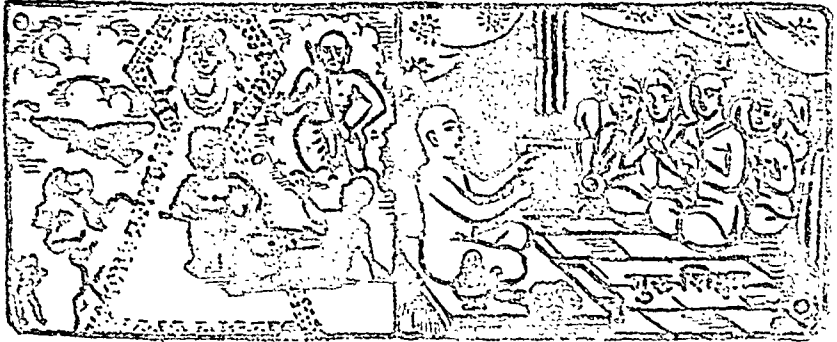
अन्वयार्थः—(त्रिभुवन में) तीनों लोक में (जे) जो (अनन्त) अनन्त (जीव) प्राणी [हैं वे] (सुख) सुखकी (चाहैं) इच्छा करते हैं और (दुखतैं) दुःख से (भयवन्त) डरते हैं (तातैं) इसलिये (गुरु) आचार्य (करुणा) दया (धार) करके (दुखहारी) दुःखका नाश करनेवाली और (सुखकार) सुख को देनेवाली (सीख) शिक्षा (कहैं) कहते हैं ।

भावार्थः—तीन लोक में जो अनन्त जीव (प्राणी) हैं वे दुःख से डरते हैं और सुख को चाहते हैं इसलिये आचार्य दुःखका नाश करनेवाली तथा सुख देनेवाली शिक्षा देते हैं । २ ।

गुरुशिक्षा सुनने का आदेश तथा संसार परिभ्रमण का कारण

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्यान;
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि ॥३॥
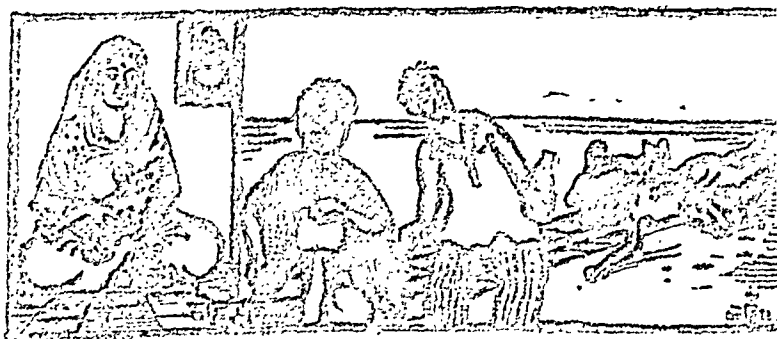
अन्वयार्थः—(भवि) हे भव्य जीवो! (जो) यदि (अपनो) अपना (कल्यान) हित (चाहो) चाहते हो [तो] (ताहि) गुरु की वह शिक्षा (मन) मनको (थिर) स्थिर (आन) करके (सुनो) सुनो [कि इस संसार में प्रत्येक प्राणी] (अनादि) अनादिकाल से (मोह महामद) मोह रूपी महा मदिरा (पियो) पीकर, (आपको) अपनी आत्माको (भूल) भूलकर (वादि) व्यर्थ (भरमत) भटक रहा है।

भावार्थः—हे भद्र प्राणियो! यदि अपना हित चाहते हो तो, अपने मन को स्थिर करके यह शिक्षा सुनो। जिस प्रकार कोई शराबी मनुष्य तेज शराब पीकर, नशे में चकचूर होकर, इधर-उधर डगमगाकर गिरता है, उसीप्रकार यह जीव अनादि-काल से मोह में फँसकर, अपनी आत्मा के स्वरूपको भूलकर चारों गतियों में जन्म-मरण धारण करके भटक रहा है। ३।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और निगोद का दुःख

तास भ्रमन की है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा;
काल अनन्त निगोद मँझार, वीत्यो एकेन्द्री तन धार ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(तास) उस संसार में (भ्रमन की) भटकने की (कथा) कथा (बहु) बड़ी (है) है (पै) तथापि (यथा) जैसी (मुनि) पूर्वाचार्यों ने (कही) कही है (तथा) तदनुसार मैं भी (कछु) थोड़ी-सी (कहूँ) कहता हूँ [कि इस जीवका] (निगोद मँझार) निगोद में (एकेन्द्री) एकेन्द्रिय जीव के (तन) शरीर (धार) धारण करके (अनंत) अनंत (काल) काल (वीत्यो) व्यतीत हुआ है।

भावार्थः—संसार में जन्म-मरण धारण करने की कथा बहुत बड़ी है। तथापि जिसप्रकार पूर्वाचार्यों ने अपने अन्य ग्रन्थों में कही है, तदनुसार मैं (दौलतराम) भी इस ग्रन्थ में थोड़ी-सी कहता हूँ। इस जीवने नरक से भी निकृष्ट निगोद में एकेन्द्रिय जीव के शरीर धारण किये अर्थात् साधारण वनस्पतिकाय में उत्पन्न होकर वहाँ अनंतकाल व्यतीत किया है। ४।

निगोद का दुःख और वहाँ से निकलकर प्राप्त की हुई पर्यायें

एक श्वास में अठदस बार, जनम्यो मरयो भरयो दुखभार;
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो ॥५॥
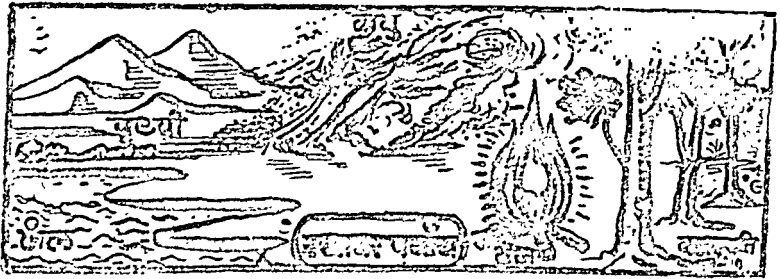
अन्वयार्थः—[निगोद में यह जीव] (एक श्वास में) एक साँस में (अठदस वार) अठारह वार (जनम्यो) जनमा और (मर्यो) मरा [तथा] (दुखभार) दुःखों के समूह (भर्यो) सहन किये [और वहाँ से] (निकसि) निकलकर (भूमि) पृथ्वीकायिक जीव, (जल) जलकायिक जीव, (पावक) अग्निकायिक जीव (भयो) हुआ, तथा (पवन) वायुकायिक जीव [और] (प्रत्येक वनस्पति) प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव (थयो) हुआ ।

भावार्थः—निगोद [साधारण वनस्पति] में इस जीव ने एक श्वासमात्र (जितने) समय में अठारह वार जन्म* और मरण† करके भयंकर दुःख सहन किये हैं। और वहाँ से निकलकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव‡ के रूप में उत्पन्न हुआ । ५ ।

---

* नया शरीर धारण करना ।

† वर्तमान शरीर का त्याग ।

‡ निगोद से निकलकर ऐसी पर्यायें धारण करने का कोई निश्चित क्रम नहीं है; निगोदसे एकदम मनुष्य पर्याय भी प्राप्त हो सकती है। जैसे कि:—भरत के बत्तीस हजार पुत्रों ने निगोद से सीधी मनुष्य पर्याय प्राप्त की और मोक्ष गये ।

तिर्यंचगति में त्रस पर्याय की दुर्लभता और उसका दुःख

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि, त्यों पर्याय लही त्रसतणी;
लट पिपील अलि आदि शरीर, धर धर मर्‌यो सही वहु पीर ॥६॥

अन्वयार्थः—(ज्यों) जिसप्रकार (चिन्तामणि) चिन्तामणि रत्न (दुर्लभ) कठिनाई से (लहि) प्राप्त होता है (त्यों) उसी प्रकार (त्रसतणी) त्रस की (पर्याय) पर्याय [भी बड़ी कठिनाई से] (लही) प्राप्त हुई। [वहाँ भी] (लट) इल्ली (पिपील) चींटी (अलि) भँवरा (आदि) इत्यादि के (शरीर) शरीर (धर धर) बारम्बार धारण करके (मर्‌यो) मरण को प्राप्त हुआ [और] (वहु पीर) अत्यन्त पीड़ा (सही) सहन की।

भावार्थः—जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न वड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है उसी प्रकार इस जीवने त्रस की पर्याय वड़ी कठिनता से प्राप्त की। उस त्रस पर्याय में भी लट (इल्ली) आदि दो इन्द्रिय जीव, चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव और भँवरा आदि चार इन्द्रिय जीवके शरीर धारण करके मरा और अनेक दुःख सहन किये।६।

तिर्यंच गति में असंज्ञी तथा संज्ञी के दुःख

कबहूं पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो;
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशु हति खाये भूर ॥ ७ ॥
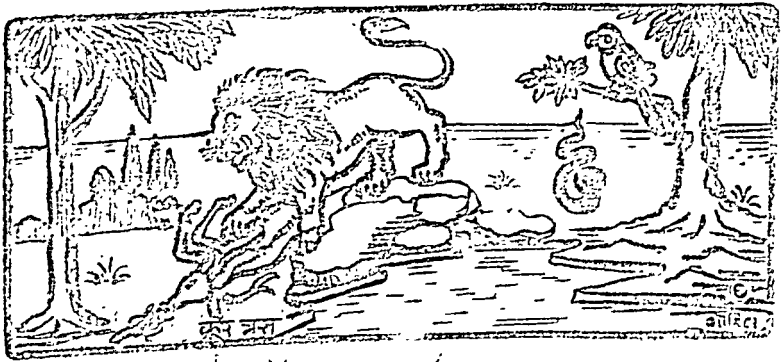
अन्वयार्थः—[यह जीव] (कबहूँ) कभी (पंचेन्द्रिय) पंचेन्द्रिय (पशु) तिर्यंच (भयो) हुआ [तो] (मन बिन) मनके बिना (निपट) अत्यन्त (अज्ञानी) मूर्ख (थयो) हुआ [और] (सैनी) संज्ञी [भी] (ह्वै) हुआ [तो] (सिंहादिक) सिंह आदि (क्रूर) क्रूर जीव (ह्वै) होकर (निबल) अपने से निर्बल, (भूर) अनेक (पशु) तिर्यंच (हति) मार–मार कर (खाये) खाये।

भावार्थः—यह जीव कभी पंचेन्द्रिय असंज्ञी पशु भी हुआ तो मन रहित होने से अत्यन्त अज्ञानी रहा; और कभी संज्ञी हुआ तो सिंह आदि क्रूर-निर्दय होकर, अनेक निर्बल जीवों को मार-मार कर खाया तथा घोर अज्ञानी हुआ। ७।

तिर्यंच गति में निर्बलता तथा दुःख

कबहूं आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अतिदीन;
छेदन भेदन भूख पियास, भार-वहन, हिम, आतप त्रास ॥८॥

अन्वयार्थः—[यह जीव तिर्यंच गति में] (कबहूँ) कभी (आप) स्वयं (बलहीन) निर्बल (भयो) हुआ [तो] (अति दीन) असमर्थ होने से (सबलनि करि) अपने से बलवान प्राणियों द्वारा (खायो) खाया गया [और] (छेदन) छेदा जाना, (भेदन) भेदा जाना, (भूख) भूख (पियास) प्यास, (भारवहन) बोझ ढोना, (हिम) ठण्ड (आतप) गर्मी [आदिके] (त्रास) दुख सहन किये।

भावार्थः—जब यह जीव तिर्यंचगति में किसी समय निर्बल पशु हुआ तो स्वयं असमर्थ होने के कारण अपनेसे बलवान प्राणियों द्वारा खाया गया; तथा उस तिर्यंचगति में छेदा जाना, भेदा जाना, भूख, प्यास, बोझ ढोना, ठण्ड, गर्मी आदि के दुःख भी सहन किये। ८।

तिर्यंच के दुःख की अधिकता और नरक गति की प्राप्ति का कारण

वध बंधन आदिक दुख घने, कोटि जीभतैं जात न भने;
अति संक्लेश भावतैं मरयो, घोर श्वभ्रसागर में परयो ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—[इस तिर्यंचगति में जीव ने अन्य भी] (वध) मारा जाना, (बंधन) बाँधना (आदिक) आदि (घने) अनेक (दुख) दुःख सहन किये; [वे] (कोटि) करोड़ों (जीभतैं) जीभों से (भने न जात) नहीं कहे जा सकते। [इस कारण] (अति संक्लेश) अत्यन्त बुरे (भावतैं) परिणामों से (मरयो) मरकर (घोर) भयानक (श्वभ्रसागर में) नरक रूपी समुद्र में (परयो) जा गिरा।

भावार्थः—इस जीव ने तिर्यंचगति में मारा जाना, बँधना आदि अनेक दुःख सहन किये; जो करोड़ों जीभों से भी नहीं कहे जा सकते। और अंत में इतनें बुरे परिणामों (आर्तध्यान) से मरा कि जिसे बडी कठिनतासे पार किया जा सके ऐसे समुद्र समान घोर नरक में जा पहुँचा। ९।

नरकों की भूमि और नदियों का वर्णन

तहाँ भूमि परसत दुख इसो, विच्छू सहस डसे नहिं तिसो;
तहाँ राध-श्रोणितवाहिनी, कृमि-कुल-कलित, देह-दाहिनी ॥१०॥

अन्वयार्थः—(तहाँ) उस नरक में (भूमि) धरती (परसत) स्पर्श करने से (इसो) ऐसा (दुख) दुःख होता है [कि] (सहस) हजारों (विच्छू) विच्छू (डसे) डंक मारें तथापि (नहिं तिसो) उसके समान दुःख नहीं होता [तथा] (तहाँ) वहाँ [नरक में] (राध–श्रोणितवाहिनी) रक्त और मवाद वहानेवाली नदी [वैतरणी नामक नदी] है जो (कृमिकुलकलित) छोटे-छोटे क्षुद्र कीड़ों से भरी है तथा (देह–दाहिनी) शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली है।

भावार्थः—उन नरकोंकी भूमिका स्पर्शमात्र करने से नारकियों को इतनी वेदना होती है कि हजारों बिच्छू एक साथ डंक मारें तब भी उतनी वेदना न हो। तथा उस नरक में रक्त, मवाद और छोटे-छोटे कीड़ों से भरी हुई, शरीर में दाह उत्पन्न करने वाली एक वैतरणी नदी है, जिसमें शांति लाभ की इच्छा से नारकी जीव कूदते हैं, किन्तु वहाँ तो उनकी पीड़ा अधिक भयंकर हो जाती है।

(जीवों को दुःख होने का मूल कारण तो उनकी शरीर के साथ ममता तथा एकत्व बुद्धि ही है; धरती का स्पर्श आदि तो मात्र निमित्त कारण है।) ।१०।

नरकों के सेमल वृक्ष तथा—सर्दी—गर्मी के दुःख

सेमर तरु दलजुत असिपत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र;
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(तत्र) उन नरकों में (असिपत्र ज्यों) तलवार की धारकी भाँति तीक्ष्ण (दलजुत) पत्तोंवाले (सेमरतरु) सेमल के वृक्ष [हैं, जो] (देह) शरीर को (असि ज्यों) तलवार की भाँति (विदारैं) चीर देते हैं, [और] (तत्र) वहाँ [उस नरक में] (ऐसी) ऐसी (शीत) ठण्ड [और] (उष्णता) गरमी (थाय) होती है [कि] (मेरु समान) मेरु जैसे पर्वत के बराबर (लोह) लोहे का गोला भी (गलि) गल (जाय) सकता है।
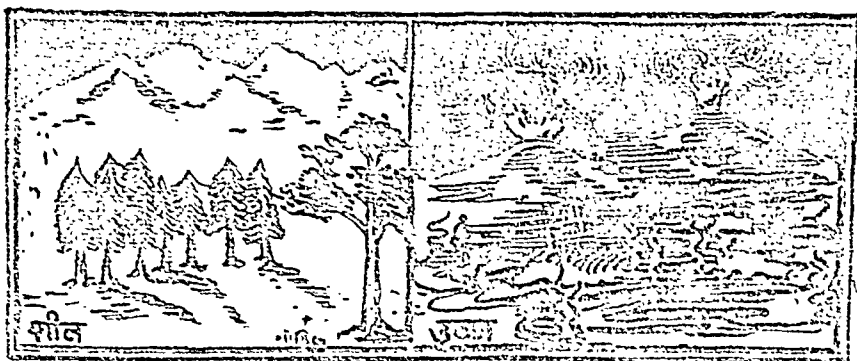
भावार्थः—उन नरकों में अनेक सेमल के वृक्ष हैं, जिनके पत्ते तलवार की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। जब दुःखी नारकी छाया मिलने की आशा लेकर उस वृक्ष के नीचे जाता है, तब उस वृक्षके पत्ते गिरकर उसके शरीर को चीर देते हैं। उन नरकों में इतनी गरमी होती है कि एक लाख योजन ऊंचे सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का पिण्ड भी पिघल* जाता है, तथा इतनी ठण्ड पड़ती है कि सुमेरु के समान लोहे का गोला भी गल†

---

* मेरुसम लोहपिण्डं, सीदं उण्हे विलम्मि पक्खितं।
ण लहदि तलप्पदेशं, विलीयदे मयणखण्डं वा॥
† मेरुसम लोहपिण्डं, उण्हं सीदे विलम्मि पक्खितं।
ण लहदि तलं पदेशं, विलीयदे लवणखण्डं वा॥

* **अर्थः**—जिसप्रकार गर्मी में मोम पिघल जाता है (पानी की भाँति बहने लगता है) उसी प्रकार सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला गर्म बिल में फेंका जाये तो वह बीच में ही पिघलने लगता है।

† तथा जिस प्रकार ठण्ड और बरसात में नमक गल जाता है (पानी बन जाता है) उसी प्रकार सुमेरु के बराबर लोहे का गोला ठण्डे बिल में फेंका जाये तो बीच में ही गलने लगता है। पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे नरक की भूमि गर्म है; पाँचवें नरक में ऊपर की भूमि गर्म तथा नीचे तीसरा भाग ठण्डा है। छठवें तथा सातवें नरक की भूमि ठण्डी है।

जाता है। जिसप्रकार लोक में कहा जाता है कि ठण्ड के मारे हाथ अकड़ गये, हिम गिरने से वृक्ष या अनाज जल गया आदि। यानी अतिशय प्रचंड ठण्ड के कारण लोहे में चिकनाहट कम हो जाने से उसका स्कंध बिखर जाता है। ११।

नरकों में अन्य नारकी, असुरकुमार तथा प्यास का दुःख

तिल–तिल करैं देहके खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड;
सिन्धुनीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय ॥१२॥
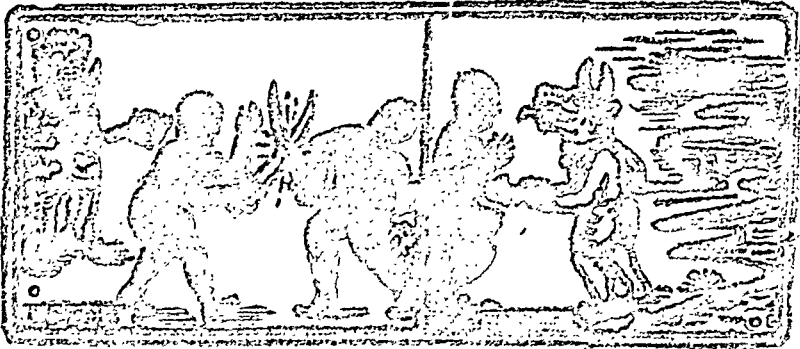
अन्वयार्थः—[उन नरकों में नारकी जीव एक-दूसरे के] (देहके) शरीर के (तिल-तिल) तिल्ली के दाने बराबर (खण्ड) टुकड़े (करैं) कर डालते हैं [और] (प्रचण्ड) अत्यन्त (दुष्ट) क्रूर (असुर) असुरकुमार जाति के देव [एक दूसरे के साथ] (भिड़ावैं) लड़ाते हैं; [तथा इतनी] (प्यास) प्यास [लगती है कि] (सिन्धुनीर तैं) समुद्र भर पानी पीने से भी (न जाय) शांत न हो, (तो पण) तथापि (एक बूँद) एक बूँद भी (न लहाय) नहीं मिलती।

भावार्थः—उन नरकों में नारकी एक-दूसरे को दुःख देते रहते हैं, अर्थात् कुत्तों की भाँति हमेशा आपस में लड़ते रहते

हैं। वे एक दूसरे के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं, तथापि उनके शरीर वारम्वार पारे* की भाँति विखर कर फिर जुड़ जाते हैं। संक्लिष्ट परिणामवाले अम्ब और अम्बरीष आदि जाति के असुरकुमार देव पहले, दूसरे तथा तीसरे नरक तक जाकर वहाँ की तीव्र यातनाओं में पड़े हुए नारकियों को अपने अवधि-ज्ञान के द्वारा परस्पर वैर वतलाकर अथवा क्रूरता और कुतूहल से आपस में लड़ाते हैं और स्वयं आनन्दित होते हैं। उन नारकी जीवों को इतनी महान प्यास लगती है कि मिल जाये तो पूरे महासागर का जल भी पी जायें, तथापि तृषा शांत न हो; किन्तु पीने के लिये जल की एक बूँद भी नहीं मिलती। १२।

नरकों की भूख, आयु और मनुष्यगति प्राप्ति का वर्णन

तीनलोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय;
ये दुख वहु सागर लौं सहै, करम जोगतैं नरगति लहै ॥१३॥
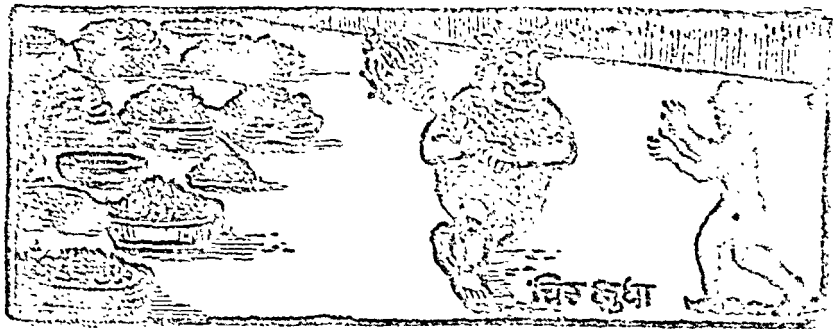
अन्वयार्थः—[उन नरकोंमें इतनी भूख लगती है कि] (तीनलोक को) तीनों लोक का (नाज) अनाज (जु खाय) खा जाये तथापि (भूख)

---

* पारा एक धातु के रस समान होता है। धरती पर फेंकने से वह अनुक अंश में छार-छार होकर विखर जाता है और पुनः एकत्रित कर देने से एक पिण्डरूप वन जाता है।

क्षुधा (न मिटै) शांत न हो [परन्तु खाने के लिये] (कणा) एक दाना भी (न लहाय) नहीं मिलता। (ये दुख) ऐसे दुःख (बहु सागर लौं) अनेक सागरोपमकाल तक (सहे) सहन करता है, (करम जोगतैं) किसी विशेष शुभकर्म के योग से (नरगति) मनुष्य गति (लहै) प्राप्त करता है।

भावार्थः—उन नरकों में इतनी तीव्र भूख लगती है कि यदि मिल जाये तो तीनों लोक का अनाज एकसाथ खा जावें तथापि क्षुधा शांत न हो; परन्तु वहाँ खाने के लिये एक दाना भी नहीं मिलता। उन नरकों में यह जीव ऐसे अपार दुःख दीर्घकाल (कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम काल तक) भोगता है। फिर किसी शुभकर्म के उदय से यह जीव मनुष्य गति प्राप्त करता है। १३।

मनुष्यगति में गर्भनिवास तथा प्रसवकाल के दुःख

जननी उदर वस्यो नव मास, अंग सकुचतैं पायो त्रास;
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर ॥१४॥
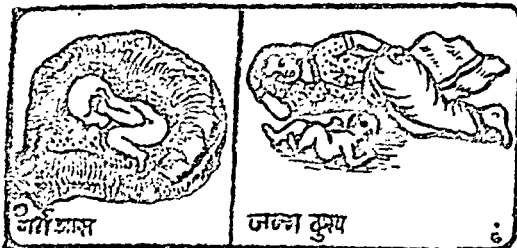
अन्वयार्थः—[मनुष्यगति में भी यह जीव] (नव मास) नौ महीने तक (जननी) माता के (उदर) पेट में (वस्यो) रहा; [तब वहाँ] (अंग) शरीर (संकुचतैं) सिकोड़कर रहने से (त्रास) दुःख

(पायो) पाया, [और] (निकसत) निकलते समय (जे) जो (घोर) भयंकर (दुख पाये) दुःख पाये (तिनको) उन दुःखों को (कहत) कहने से (ओर) अन्त (न आवे) नहीं आ सकता।

भावार्थः—मनुष्यगति में भी यह जीव नौ महीने तक माता के पेट में रहा; वहाँ शरीर को सिकोडकर रहने से तीव्र वेदना सहन की, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो माता के पेट से निकलते समय माता का अथवा पुत्रका अथवा दोनों का मरण भी हो जाता है। १४।

मनुष्यगति में बाल, युवा और वृद्धावस्था के दुःख

बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी-रत रह्यो;
अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥ १५ ॥
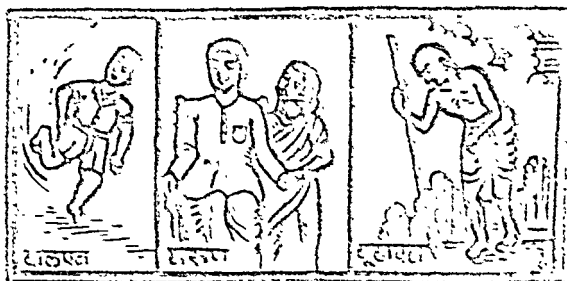
अन्वयार्थः—[मनुष्यगति में जीव] (बालपनेमें) बचपन में (ज्ञान) ज्ञान (न लह्यो) प्राप्त नहीं कर सका [और] (तरुण समय) युवावस्था में (तरुणीरत) युवती स्त्री में लीन (रह्यो) रहा, [और] (बूढापनो) वृद्धावस्था (अर्धमृतकसम) अधमरा जैसा [रहा, ऐसी दशा में] (कैसे) किस प्रकार [जीव] (आपनो) अपना [रूप] स्वरूप (लखै) देखे—विचारे।

भावार्थः—मनुष्यगति में भी यह जीव बाल्यावस्था में विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाया, यौवनावस्था में ज्ञान तो प्राप्त किया किन्तु स्त्री के मोह (विषयभोग) में भूला रहा और वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति कम होगई अथवा मरणपर्यंत पहुँचे ऐसा कोई रोग लग गया कि जिससे अधमरा जैसा पड़ा रहा। इसप्रकार यह जीव तीनों अवस्थाओं में आत्मस्वरूपका दर्शन (पहिचान) न कर सका। १५।

देवगति में भवनत्रिक का दुःख

कभी अकामनिर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै;
विषय-चाह-दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो ॥१६॥
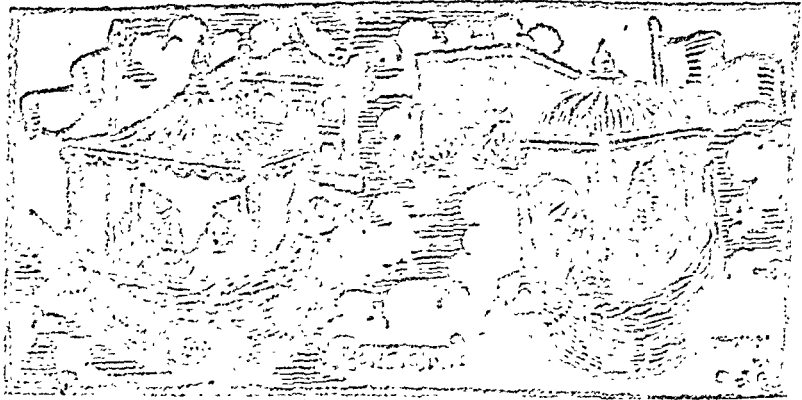
अन्वयार्थः—[इस जीव ने] (कभी) कभी (अकामनिर्जरा) अकामनिर्जरा (करै) की [तो मरने के पश्चात्] (भवनत्रिक) भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी में (सुर-तन) देवपर्याय (धरै) धारण की, [परन्तु वहाँ भी] (विषयचाह) पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूपी (दावानल) भयंकर अग्नि म (दह्यो

जलता रहा [और] (मरत) मरते समय (विलाप करत) रो-रो कर (दुख) दुःख सहन किया।

भावार्थः—जब कभी इस जीवने अकामनिर्जरा की तब मरकर उस निर्जरा के प्रभाव से (भवनत्रिक) भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में से किसी एक का शरीर धारण किया। वहाँ भी अन्य देवों का वैभव देखकर पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छारूप अग्नि में जलता रहा। फिर मंदारमाला को मुरझाते देखकर तथा शरीर और आभूषणों की कान्ति क्षीण होते देखकर अपना मृत्युकाल निकट है ऐसा अवधिज्ञान द्वारा जानकर "हाय! अब यह भोग मुझे भोगने को नहीं मिलेंगे!" ऐसे विचार से रो-रोकर अनेक दुःख सहन किये।१६।

अकामनिर्जरा यह सिद्ध करती है कि कर्म के उदयानुसार ही जीव विकार नहीं करता, किन्तु चाहे जैसा कर्मोदय होने पर भी जीव स्वयं पुरुषार्थ कर सकता है।

देवगति में वैमानिक देवों का दुःख

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन विन दुख पाय;
तहँतें चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै ॥ १७ ॥
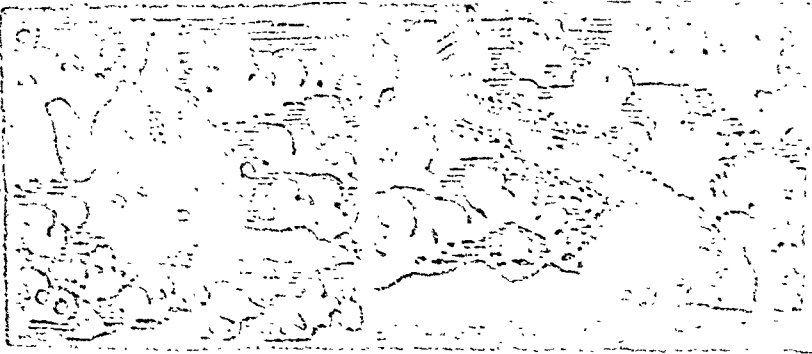
अन्वयार्थः—(जो) यदि (विमानवासी) वैमानिक देव (हू) भी (थाय) हुआ [तो वहाँ] सम्यग्दर्शन] सम्यग्दर्शन (विन) बिना (दुख) दुःख (पाय) प्राप्त किया [और] (तहँतैं] वहाँ से (चय) मरकर (थावर तन) स्थावर जीवका शरीर (धरै) धारण करता है (यों) इसप्रकार [यह जीव] (परिवर्तन) पाँच परावर्तन (पूरे करै) पूर्ण करता रहता है।

भावार्थः—यह जीव वैमानिक देवों में भी उत्पन्न हुआ किन्तु वहाँ इसने सम्यग्दर्शन के बिना दुःख उठाये और वहाँ से भी मरकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरों* के शरीर धारण किये; अर्थात् पुनः तिर्यंचगति में जा गिरा। इसप्रकार यह जीव अनादिकाल से संसार में भटक रहा है और पाँच परावर्तन कर रहा है। १७।

सार

संसार की कोई भी गति सुखदायक नहीं है। निश्चय सम्यग्दर्शन से ही पंच परावर्तनरूप संसार परित होता है। अन्य किसी कारण से—दया, दानादि के शुभराग से संसार नहीं टूटता। संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं है, किन्तु मिथ्यात्व (पर के साथ एकत्वबुद्धि—कर्ताबुद्धि; शुभराग से धर्म होता है; शुभराग हितकर है ऐसी मान्यता) ही दुख का कारण है। सम्यग्दर्शन सुख का कारण है।

पहली ढाल का सारांश

तीन लोक में जो अनंत जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। किन्तु अपना यथार्थ स्वरूप समझें तभी सुखी

---

* मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रिय होता है, सम्यग्दृष्टि नहीं।

हो सकते हैं। चार गतियों का संयोग किसी भी संयोग-दुःख का कारण नहीं है तथापि पर में एकत्वबुद्धि द्वारा इष्ट-अनिष्टपना मानकर जीव अकेला दुःखी होता है। और वहाँ भ्रमवश होकर कैसे संयोग के लक्ष से विकार करता है वह संक्षेप में कहा है।

तिर्यंचगति के दुःखों का वर्णन—यह जीव निगोद में अनंतकाल तक रहकर, वहाँ एक श्वास में अठारह वार जन्म धारण करके अकथनीय वेदना सहन करता है। वहाँ से निकलकर अन्य स्थावर पर्यायें धारण करता है। त्रस पर्याय तो चिन्तामणिरत्न के समान अति दुर्लभता से प्राप्त होती है। वहाँ भी विकलत्रय शरीर धारण करके अत्यन्त दुःख सहन करता है। कदाचित् असंज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ तो मनके विना दुःख प्राप्त करता है। संज्ञी हो तो वहाँ भी निर्वल प्राणी वलवान प्राणी द्वारा सताया जाता है। वलवान जीव दूसरों को दुःख देकर महान पाप का वंध करते हैं और छेदन, भेदन, भूख, प्यास, शीत, उष्णता आदि के अकथनीय दुःखों को प्राप्त होते हैं।

नरकगति का दुःख—जब कभी अशुभ पाप परिणामों से मृत्यु प्राप्त करते हैं तब नरक में जाते हैं। वहाँ की मिट्टी का एक कण भी इस लोक में आ जाये तो उसकी दुर्गंध से कई कोसों के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मर जायेंगे। उस धरती को छूने से भी असह्य वेदना होती है। वहाँ वैतरणी नदी, सेमलवृक्ष, शीत, उष्णता तथा अन्न—जल के अभाव से स्वतः महान् दुःख होता है। जब विलों में औंधे मुह लटकते हैं तब अपार वेदना होती है। फिर दूसरे नारकी उसे देखते ही कुत्ते की भाँति उसपर टूट

पड़ते हैं और मारपीट करते हैं। तीसरे नरक तक अम्ब और अम्बरीप आदि नामके संक्लिष्ट परिणामी असुरकुमार देव जाकर नारकियों को अवधिज्ञान के द्वारा पूर्वभवों के विरोध का स्मरण कराके परस्पर अड़वाते हैं; तब एक-दूसरे के द्वारा कोल्हू में पिलना, अग्नि में जलना, आरे से चीरा जाना, कढाई में उबलना टुकड़े-टुकड़े कर डालना आदि अपार दुःख उठाते हैं-ऐसीं वेदनाएँ निरन्तर सहना पड़ती हैं। तथापि क्षणमात्र साता नहीं मिलती; क्योंकि टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी शरीर पारे की भाँति पुनः मिलकर ज्यों का त्यों हो जाता है। वहाँ आयु पूर्ण हुए विना मृत्यु नहीं होती। नरक में ऐसे दुःख कम से कम दस हजार वर्ष तक तो सहना ही पड़ते हैं किन्तु यदि उत्कृष्ट आयु का बंध हुआ तो तेतीस सागरोपम वर्ष तक शरीर का अन्त नहीं होता।

मनुष्यगति का दुःख—किसी विशेष पुण्यकर्म के उदय से यह जीव जब कभी मनुष्यपर्याय प्राप्त करता है, तब नौ महीने तक तो माता के उदर में ही पड़ा रहता है; वहाँ शरीर को सिकोड़ कर रहने से महान कष्ट उठाना पड़ता है। वहाँ से निकलते समय जो अपार वेदना होती है उसका तो वर्णन भी नहीं किया जा सकता। फिर बचपन में ज्ञान के बिना, युवावस्था में विषय-भोगों में आसक्त रहने से तथा वृद्धावस्थामें इन्द्रियों की शिथिलता अथवा मरणपर्यंत क्षयरोग आदि में रुकने के कारण आत्मदर्शन से विमुख रहता है और आत्मोद्धार का मार्ग प्राप्त नहीं कर पाता।

देवगति का दुःख—यदि कोई शुभकर्मके उदयसे देव भी हुआ, तो दूसरे वडे देवोंका वैभव और सुख देखकर मन ही मन दुःखी होता रहता है। कदाचित् वैमानिक देव भी हुआ, तो वहाँ भी सम्यक्त्व के विना आत्मिक शांति प्राप्त नहीं कर पाता। तथा अंत समय में मंदारमाला मुरझा जाने से, आभूपण और शरीरकी कान्ति क्षीण होने से मृत्यु को निकट आया जानकर महान दुःख होता है और आर्तध्यान करके हाय-हाय करके मरता है। फिर एकेन्द्रिय जीव तक होता है अर्थात् पुनः तिर्यंचगति में जा पहुँचता है। इसप्रकार चारों गतियोंमें जीवको कहीं भी सुख-शान्ति नहीं मिलती। इसप्रकार अपने मिथ्याभावोंके कारण ही निरन्तर संसारचक्रमें परिभ्रमण करता रहता है।

पहली ढालका भेद संग्रह

एकेन्द्रिय—पृथ्वीकायिक जीव, अपकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव, और वनस्पतिकायिक जीव।

गति—मनुष्यगति, तिर्यंचगति देवगति और नरकगति।

जीव—संसारी और मुक्त।

त्रस—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय।

देव—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

पंचेन्द्रिय—संज्ञी और असंज्ञी।

योग—मन, वचन और काय; अथवा द्रव्य और भाव।

लोक—ऊर्ध्व, मध्य, अधो।

वनस्पति—साधारण और प्रत्येक।

वैमानिक—कल्पोत्पन्न, कल्पातीत।

संसारी—त्रस और स्थावर; अथवा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

पहली ढाल का लक्षण संग्रह

अकामनिर्जरा—सहन करनेकी अनिच्छा होने पर भी जीव रोग, क्षुधादि सहन करता है। तीव्र कर्मोदयमें युक्त न होकर जीव पुरुपार्थ द्वारा मंदकषायरूप परिणमित हो वह।

अग्निकायिक—अग्नि ही जिसका शरीर होता है ऐसा जीव।

असंज्ञी—शिक्षा और उपदेश ग्रहण करने की शक्तिरहित जीवको असंज्ञी कहते हैं।

इन्द्रिय—आत्माके चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं।

एकेन्द्रिय—जिसे एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है ऐसा जीव।

गतिनामकर्म—जो कर्म जीवके आकार नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव जैसे बनाता है।

गति—जिसके उदयसे जीव दूसरी पर्याय (भव) प्राप्त करता है।

चिन्तामणि—जो इच्छा करनेमात्र से इच्छित वस्तु प्रदान करता है ऐसा रत्न।

तिर्यंचगति—तिर्यंचगति नामकर्मके उदयसे जीव तिर्यंचमें जन्म धारण करता है।

देवगति—देवगति नामकर्मके उदयसे देवों में जन्म धारण करना।

नरक—पापकर्मके उदयमें युक्त होनेके कारण जिस स्थानमें जन्म लेते ही जीव असह्य एवं अपरिमित वेदना अनुभव करने लगता है; तथा दूसरे नारकियों द्वारा सताये जाने के कारण दुःखका अनुभव करता है, तथा जहाँ तीव्र द्वेष-पूर्ण जीवन व्यतीत होता है—वह स्थान। जहाँपर क्षणभर भी ठहरना नहीं चाहता।

नरकगति—नरकगति नामकर्मके उदयसे नरकमें जन्म लेना।

निगोद—साधारण नामकर्मके उदयसे एक शरीरके आश्रयसे अनंतानंत जीव समानरूपसे जिसमें रहते हैं मरते हैं और पैदा होते हैं उस अवस्थावाले जीवोंको निगोद कहते हैं।

नित्यनिगोद—जहाँके जीवोंने अनादिकालसे आजतक त्रसपर्याय प्राप्त नहीं की ऐसी जीवराशि। किन्तु भविष्यमें वे जीव त्रसपर्याय प्राप्त कर सकते हैं।

परिवर्तन—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपसंसारचक्रमें परिभ्रमण।

पंचेन्द्रिय—जिनके पांच इन्द्रियाँ होती हैं ऐसे जीव।

पृथ्वीकायिक—पृथ्वी ही जिन जीवोंका शरीर है वे।

प्रत्येकवनस्पति—जिसमें एक शरीरका स्वामी एक जीव होता है ऐसे वृक्ष, फल आदि।

भव्य—तीनकालमें किसी भी समय रत्नत्रय प्राप्ति की योग्यता रखनेवाले जीवको भव्य कहा जाता है।

मन—हित-अहितका विचार तथा शिक्षा और उपदेश ग्रहण करनेकी शक्ति सहित ज्ञान विशेष को भावमन कहते हैं। हृदयस्थानमें आठ पंखुड़ियोंवाले कमलकी आकृति सम[illegible] जो पुद्गलपिण्ड—उसे जड़मन अर्थात् द्रव्यमन कह[illegible]।

मनुष्यगति—मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे मनुष्योंमें जन्म लेना अथवा उत्पन्न होना।

मेरु—जम्बूद्वीपके विदेहक्षेत्रमें स्थित एक लाख योजन ऊँचा एक पर्वत विशेष।

मोह—परके साथ एकत्वबुद्धि सो मिथ्यात्वमोह है; यह मोह अपरिमित है; तथा अस्थिरतारूप रागादि सो चारित्र-मोह है; यह मोह परिमित है।

लोक—जिसमें जीवादि छह द्रव्य स्थित हैं उसे लोक अथवा लोकाकाश कहते हैं।

विमानवासी—स्वर्ग और ग्रैवेयक आदिके देव।

वीतरागका लक्षण—

जन्म[१], जरा[२], तृषा[३], क्षुधा[४], विस्मय[५], आरत[६], खेद[७], ।
रोग[८], शोक[९], मद[१०], मोह[११], भय[१२], निद्रा[१३], चिन्ता[१४] स्वेद[१५], ।
राग[१६], द्वेष[१७], अरु मरण[१८], जुत, ये अष्टादश दोष ।
नाहिं होत जिस जीव के, वीतराग सो होय ॥

श्वास—रक्तकी गतिप्रमाण समय, कि जो एक मिनट में ८० वारसे कुछ अंश कम चलती है।

सागर—दो हजार कोस गहरे तथा इतने ही चौड़े गोलाकार गड्ढे को, कैंचीसे जिसके दो टुकड़े न हो सकें ऐसे, तथा एक से सात दिन की उम्रके उत्तम भोगभूमिके मेंढेके वालोंसे भर दिया जाये। फिर उसमें से सौ-सौ वर्षके अंतर से एक वाल निकाला जाये। जितने कालमें उन सब वालों को निकाल दिया जाये उसे "व्यवहार-पल्य" कहते हैं; व्यवहार पल्य से असंख्यातगुने समय को "उद्धारपल्य" और उद्धारपल्यसे असंख्यातगुने काल को "अद्धापल्य" कहते हैं। दस कोड़ाकोड़ी (१० करोड़×१० करोड़) अद्धापल्योंका एक सागर होता है।

संज्ञी—शिक्षा तथा उपदेश ग्रहण कर सकने की शक्तिवाला मन सहित प्राणी।

स्थावर—थावर नामकर्मके उदय सहित पृथ्वी-जल-अग्नि वायु तथा वनस्पतिकायिक जीव।

अन्तर प्रदर्शन

(१) त्रस जीवोंको त्रस नामकर्मका उदय होता है, परन्तु स्थावर जीवोंको स्थावर नामकर्मका उदय होता है।—दोनोंमें यह अन्तर है।

नोट—त्रस और स्थावरों में, चल सकते हैं और नहीं चल सकते—इस अपेक्षा से अन्तर बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे गमन रहित अयोगीकेवलीमें स्थावरका लक्षण तथा गमन सहित पवन आदि एकेन्द्रिय जीवोंमें त्रसका लक्षण मिलने से अतिव्याप्ति दोष आता है।

(२) साधारणके आश्रयसे अनंतजीव रहते हैं किन्तु प्रत्येक के आश्रयसे एक ही जीव रहता है।

(३) संज्ञी तो शिक्षा और उपदेश ग्रहण कर सकता है किंतु असंज्ञी नहीं।

नोट—किन्हींका भी अंतर बतलाने के लिये सर्वत्र इस शैलीका अनुकरण करना चाहिये; मात्र लक्षण बतलाने से अन्तर नहीं निकलता।

पहली ढालकी प्रश्नावली

(१) असंज्ञी, ऊर्ध्वलोक, एकेन्द्रिय, कर्म, गति, चतुरिन्द्रिय, त्रस, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अधोलोक, पंचेन्द्रिय, प्रत्येक, मध्यलोक, वीतराग, वैक्रियिक शरीर, साधारण और स्थावरके लक्षण बतलाओ।

(२) साधारण (निगोद) और प्रत्येकमें, त्रस और स्थावर में, संज्ञी और असंज्ञी में अन्तर बतलाओ।

(३) असंज्ञी तिर्यंच, त्रस, देव, निर्बल, निगोद, पशु, बाल्यावस्था भवनत्रिक, मनुष्य, यौवन, वृद्धावस्था, वैमानिक, सबल, संज्ञी, स्थावर, नरकगति, नरकसम्बन्धी भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, भूमिस्पर्श तथा असुरकुमारोंके दुःख; अकाम निर्जराका फल, असुरकुमारोंका काय तथा गमन; नारकीके शरीरकी विशेषता और अकालमृत्युका अभाव, मंदारमाला, वैतरणी तथा शीतसे लोहेके गोलेका गल जाना—इनका स्पष्ट वर्णन करो।

(४) अनादिकालसे संसार में परिभ्रमण, भवनत्रिकमें उत्पन्न होना तथा स्वर्गोंमें दुःखका कारण बतलाओ।

(५) असुरकुमारोंका गमन, सम्पूर्ण जीवराशि, गर्भनिवासका समय, यौवनावस्था, नरककी आयु, निगोदवासका समय,

निगोदियाकी इन्द्रियाँ, निगोदियाकी आयु, निगोदमें एक श्वासमें जन्म-मरण तथा श्वासका परिणाम बतलाओ।

(६) त्रसपर्यायकी दुर्लभता १-२-३-४-५ इन्द्रिय जीव, तथा शीतसे लोहेका गोला गलजानेको दृष्टान्त द्वारा समझाओ।

(७) बुरे परिणामों से प्राप्त होने योग्य गति ग्रन्थरचयिता, जीव-कर्म सम्बन्ध, जीवोंकी इच्छित तथा अनिच्छित वस्तु, नमस्कृत वस्तु, नरक की नदी, नरकमें जानेवाले असुरकुमार, नारकी का शरीर, निगोदियाका शरीर, निगोदसे निकलकर प्राप्त होनेवाली पर्यायें, नौ महिनेसे कम समय तक गर्भमें रहनेवाले, मिथ्यात्वी वैमानिक की भविष्यकालीन पर्याय, माता-पिता रहित जीव, सर्वाधिक दुःखका स्थान, और संक्लेश परिणाम सहित मृत्यु होनेके कारण प्राप्त होने योग्य गतिका नाम बतलाओ।

(८) अपनी इच्छानुसार किसी शब्द, चरण अथवा छंदका अर्थ या भावार्थ कहो। पहली ढालका सारांश समझाओ गतियोंके दुःखों पर एक लेख लिखो अथवा कहकर सुनाओ।

❀ दूसरी ढाल ❀

* पद्धरि छन्द १५ मात्रा *

संसार (चतुर्गति) में परिभ्रमण का कारण:—

ऐसे मिथ्या दृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण;
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ वखान ॥१॥
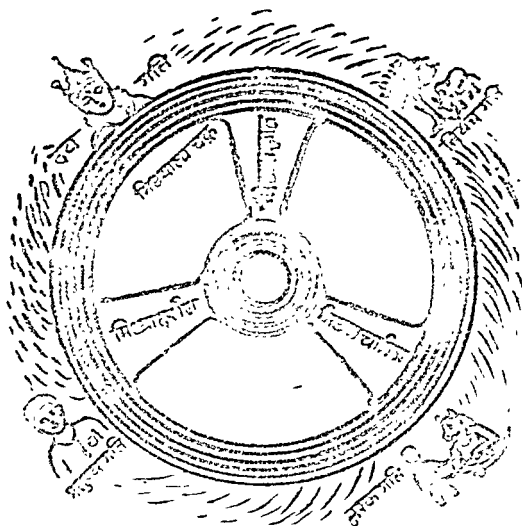
अन्वयार्थः—[यह जीव] (मिथ्या दृग-ज्ञान-चर्णवश) मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर (ऐसे) इसप्रकार (जन्म-मरण) जन्म और मरण के (दुख) दुःखों को (भरत) भोगता हुआ [चारों गतियों में] (भ्रमत) भटकता

फिरता है। (तातैं) इसलिये (इनको) इन तीनों को (सुजान) भली भांति जानकर (तजिये) छोड़ देना चाहिये। [माटे] इन तीनों का (संक्षेप) संक्षेप से (कहूँ वखान) वर्णन करता हूँ उसे (सुन) सुनो।

भावार्थः—इस चरण से ऐसा समझना चहिये कि मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही जीव को दुःख होता है अर्थात् शुभाशुभ रागादि विकार तथा पर के साथ एकत्व की श्रद्धा, ज्ञान और मिथ्या आचरण से ही जीव दुखी होता है: क्योंकि कोई संयोग सुख-दुःखका कारण नहीं हो सकता—ऐसा जानकर सुखार्थी को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिये। इसीलिये मैं यहाँ संक्षेप से उन तीन का वर्णन करता हूँ। १।

अगृहीत-मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्व का लक्षण

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व;
चेतन को है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप ॥ २ ॥
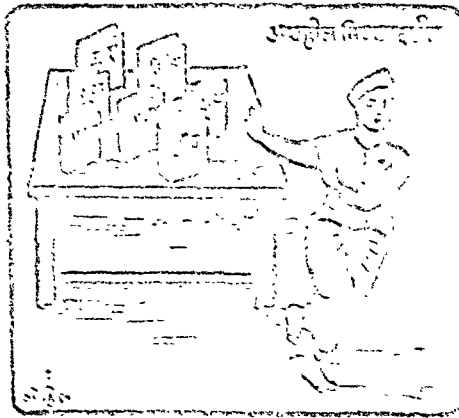
अन्वयार्थः—(जीवादि) जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष (प्रयोजनभूत) प्रयोजनभूत (तत्त्व) तत्त्व हैं,

(तिनमांहि) उनमें (विपर्ययत्त्व) विपरीत (सरधैं) श्रद्धा करना [सो अगृहीत मिथ्यादर्शन है ।] (चेतनको) आत्मा का (रूप) स्वरूप (उपयोग) देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है [और वह] (विनमूरत) अमूर्तिक (चिन्मूरत) चैतन्यमय [तथा] (अनूप) उपमारहित है ।

भावार्थ :—यथार्थरूपसे शुद्धात्मदृष्टि द्वारा जीवा, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये इन सात तत्त्वों को जानना आवश्यक है। सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव ज्ञान-दर्शन-उपयोग-स्वरूप अर्थात् ज्ञाताद्रष्टा है। अमूर्तिक, चैतन्यमय तथा उपमा रहित है।

जीवतत्त्व के विषय में मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा)

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल;
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान ॥३॥

अन्वयार्थ:—(पुद्गल) पुद्गल (नभ) आकाश (धर्म) धर्म (अधर्म) अधर्म (काल) काल (इनतैं) इनसे (जीव चाल) जीव

का स्वभाव अथवा परिणाम (न्यारी) भिन्न (है) है; [तथापि मिथ्यादृष्टि जीव] (ताकों) उस स्वभाव को (न जान) नहीं जानता और (विपरीत) विपरीत (मानकरि) मानकर (देह में) शरीर में (निज) आत्माकी (पिछान) पहिचान (करे) करता है।

भावार्थ:—पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल—यह पाँच अजीव द्रव्य हैं। जीव त्रिकालज्ञान स्वरूप तथा पुद्गलादि द्रव्योंसे पृथक् है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव आत्माके स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा न करके अज्ञानवश विपरीत मानकर, शरीर ही मैं हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ, मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ—ऐसा मानकर शरीर को ही आत्मा मानता है। [यह जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।]। ३।

मिथ्यादृष्टि का शरीर तथा परवस्तुओं सम्बन्धी विचार

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव;
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण ॥४॥

अन्वयार्थ:—[मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादर्शन के कारण से मानता है कि] (मैं) मैं (सुखी) सुखी (दुखी,) दुःखी, (रंक) निर्धन, (राव) राजा हूँ, (मेरे) मेरे यहाँ (धन) रुपया-पैसा आदि (गृह) घर (गोधन) गाय, भैंस आदि (प्रभाव) बड़प्पन

[है; और] (मेरे सुत) मेरी संतान तथा (तिय) मेरी स्त्री है; (मैं) मैं (सबल) बलवान, (दीन) निर्बल, (बेरूप) कुरूप, (सुभग) सुन्दर, (मूरख) मूर्ख और (प्रवीण) चतुर।

भावार्थः—(१) जीवतत्त्व की भूलः—जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, उसे अज्ञानी जीव नहीं जानता। और जो शरीर है सो मैं ही हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ, शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ हो, बाह्य अनुकूल संयोगों से मैं सुखी और प्रतिकूल संयोगों से मैं दुखी, मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य मैं कुरूप, मैं सुन्दर—ऐसा मानता है; शरीराश्रित उपदेश तथा उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है—इत्यादि[1] मिथ्या अभिप्राय द्वारा जो अपने परिणाम नहीं हैं किन्तु सब परपदार्थों के ही परिणाम हैं, उन्हें आत्मा का परिणाम मानता है वह जीवतत्त्व की भूल है।

अजीव और आस्रवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;
रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन ॥५॥

---
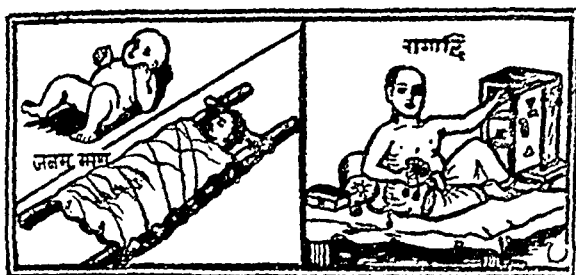
१ जो शरीरादि पदार्थ दिखाई देते हैं वे आत्मा से त्रिकाल भिन्न हैं; उन पदार्थों के ठीक रहने या बिगड़ने से आत्मा का तो कुछ भी अच्छा बुरा नहीं होता; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इससे विपरीत मानता है।

अन्वयार्थः—[मिथ्यादृष्टि जीव] (तन) शरीर के (उपजत) उत्पन्न होने से (अपनी) अपना आत्मा (उपज) उत्पन्न हुआ (जान) ऐसा मानता है और (तन) शरीर के (नशत) नाश होने से (आपको) आत्मा का (नाश) अथवा मरण हुआ ऐसा (मान) मानता है। (रागादि) राग, द्वेष, मोहादि (प्रगट) स्पष्ट रूपसे (ये) जो (दुःख-देन) दुःख देने वाले हैं (तिनही को) उनही की सेवा करता हुआ (चैन) सुख (गिनत) मानता है।

भावार्थः—(१) अजीवतत्त्व की भूलः—मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि शरीर की उत्पत्ति (संयोग (होने से मैं उत्पन्न हुआ और शरीर का नाश (वियोग) होते से मैं मर जाऊँगा, (आत्मा का मरण मानना है;) धन, शरीरादि जड पदार्थों में परिवर्तन होने से अपने में इष्ट-अनिष्ट परिवर्तन मानना, शरीर की उष्ण अवस्था होने से मुझे बुखार आया, शरीर में क्षुधा तृषारूप अवस्था होने से मुझे क्षुधा-तृषादि होते हैं, शरीर कटने से मैं कट गया—इत्यादि जो अजीव की अवस्थाएँ हैं उन्हें अपनी मानता है यह अजीवतत्त्व की भूल है[1]।

(२) आस्रवतत्त्व की भूलः—जीव अथवा अजीव कोई भी पर पदार्थ आत्मा को किंचित् भी सुख-दुःख, सुधार बिगाड़, इष्ट अनिष्ट नहीं कर सकते, तथापि अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। पर में कर्तृत्व, ममत्वरूप मिथ्यात्व तथा रागद्वेषादि शुभाशुभ आस्रवभाव—यह प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं; बंध के ही कारण हैं, तथापि अज्ञानी जीव उन्हें सुखकर जानकर सेवन करता है। और शुभभाव भी बंधका ही कारण है—आस्रव है, उसे हितकर मानता है। परद्रव्य जीवको लाभ-हानि नहीं पहुँचा सकते.

---

१ आत्मा अमर है; वह विष, अग्नि, शस्त्र, अस्त्र अथवा अन्य किसी से नहीं मरता और न नवीन उत्पन्न होता है। मरण (वियोग) तो मात्र शरीर का ही होता है।

तथापि उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें प्रीति-अप्रीति करता है; मिथ्यात्व, राग-द्वेष का स्वरूप नहीं जानता; पर पदार्थ मुझे सुख-दुःख देते हैं अथवा राग-द्वेष-मोह कराते हैं—ऐसा मानता है यह आस्रवतत्त्व की भूल है।

बंध और संवर तत्त्व की विपरित श्रद्धा

शुभ अशुभ बंधके फल मँझार, रति अरति करै निजपद विसार;
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान ॥ ६ ॥
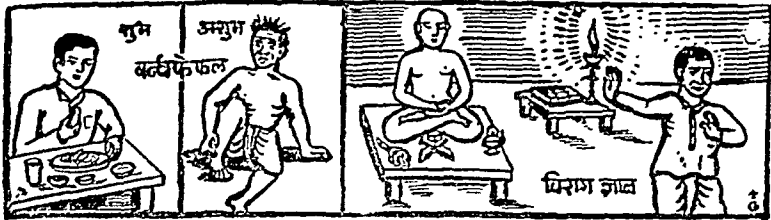
अन्वयार्थः—[मिथ्यादृष्टि जीव] (निजपद) आत्मा के स्वरूप को (विसार) भूलकर (बंधके) कर्मबंध के (शुभ) अच्छे (फल मँझार) फल में (रति) प्रेम (करै) करता है और कर्मबंध के (अशुभ) बुरे फलसे (अरति) द्वेष करता है; तथा जो (विराग) राग-द्वेष का अभाव [अर्थात् अपने यथार्थ स्वभाव में स्थिरतारूप[१] सम्यक्चारित्र] और (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान [और सम्यग्दर्शन] (आतमहित) आत्मा के हित के (हेतु) कारण हैं (ते) उन्हें (आपको) आत्मा को (कष्टदान) दुःख देने वाले (लखै) मानता है।

भावार्थः— (१) बंधतत्त्व की भूलः— अघाति कर्म के फलानुसार पदार्थों की संयोग-वियोगरूप अवस्थाएँ होती हैं।

---

१ अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ही आत्मा का सच्चा स्वरूप है।

मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल मानकर उनसे मैं सुखी-दुःखी हूँ ऐसी कल्पना द्वारा राग-द्वेष, आकुलता करता है। धन, योग्य स्त्री, पुत्रादि का संयोग होने से रति करता है; रोग, निंदा, निर्धनता, पुत्रवियोगादि होने से अरति करता है; पुण्य, पाप दोनों बंधनकर्ता हैं, किन्तु ऐसा न मानकर पुण्य को हितकारी मानता है; तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही हैं; परन्तु अज्ञानी ऐसा निर्धाररूप नहीं मानता वह बंधतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

(२) संवरतत्त्व की भूलः—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही जीव को हितकारी हैं; स्वरूप में स्थिरता द्वारा राग का जितना अभाव वह वैराग्य है, और वह सुखके कारणरूप है; तथापि अज्ञानी जीव उसे कष्टदाता मानता है यह संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

निर्जरा और मोक्ष की विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय;
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान ॥७॥
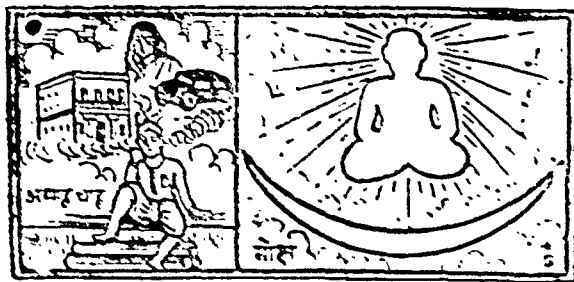
अन्वयार्थः—[मिथ्यादृष्टि जीव] (निजशक्ति) अपने आत्मा की शक्ति (खोय) खोकर (चाह) इच्छाको (न रोके) नहीं रोकता,

और (निराकुलता) आकुलता के अभाव को (शिवरूप) मोक्ष का स्वरूप (न जोय) नहीं मानता। (याही) इस (प्रतीतिजुत) मिथ्या मान्यता—सहित (कछुक ज्ञान) जो कुछ ज्ञान है (सो) वह (दुख-दायक) कष्ट देनेवाला (अज्ञान) अगृहीत मिथ्याज्ञान है ऐसा (जान) समझना चाहिये।

भावार्थः—निर्जरातत्त्व में भूलः—आत्मा में आंशिक शुद्धि की वृद्धि तथा अशुद्धि की हानि होना उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है; वह निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक ही हो सकती है। ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर होने से शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होता है वह तप है। तप दो प्रकार का है; (१) बालतप, (२) सम्यक् तप; अज्ञानदशा में जो तप किया जाता है वह बालतप है, उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती; किन्तु आत्मस्वरूप में सम्यक्प्रकार से स्थिरता-अनुसार जितना शुभ-अशुभ इच्छा का अभाव होता है वह सच्ची निर्जरा है—सम्यक् तप है; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा नहीं मानता। अपनी अनंत ज्ञानादि शक्ति को भूलकर पराश्रय में सुख मानता है, शुभाशुभ इच्छा तथा पांच इन्द्रियों के विषयों की चाहको नहीं रोकता—यह निर्जरातत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

(२) मोक्षतत्त्व की भूलः—पूर्ण निराकुल आत्मिक सुखकी प्राप्ति अर्थात् जीव की सम्पूर्ण शुद्धता वह मोक्ष का स्वरूप है तथा वही सच्चा सुख है; किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

मोक्ष होने पर तेज में तेज मिल जाता है; अथवा वहाँ शरीर इन्द्रियाँ तथा विषयों के बिना सुख कैसे हो सकता है? वहाँ से

पुनः अवतार धारण करना पड़ता है—इत्यादि। इस प्रकार मोक्षदशा में निराकुलता नहीं मानता वह मोक्षतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

(३) अज्ञानः—अगृहीत मिथ्यादर्शन के रहते हुए जो कुछ ज्ञान हो उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं; वह महान् दुःखदाता, है। उपदेशादि बाह्य निमित्तों के आलम्बन द्वारा उसे नवीन ग्रहण नहीं किया है, किन्तु अनादिकालीन है, इसलिये उसे अगृहीत (स्वाभाविक-निसर्गज) मिथ्याज्ञान कहते हैं। ७।

अगृहीत मिथ्याचारित्र (कुचारित्र) का लक्षण

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त;
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत, सुनिये सु तेह ॥८॥

अन्वयार्थः—(जो) जो (विषयनि में) पाँच इन्द्रियों के विषयों में (इन जुत) अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित (प्रवृत्त) प्रवृत्ति करता है (ताको) उसे (मिथ्याचरित्त) अगृहीत मिथ्याचारित्र (जानो) समझो। (यों) इसप्रकार (निसर्ग) अगृहीत (मिथ्यात्वादि) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का [वर्णन किया गया] (अब) अब (जे) जो (गृहीत) गृहीत [मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र] है (तेह) उसे (सुनिये) सुनो।

भावार्थः—अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करना उसे अगृहीत

मिथ्याचारित्र कहा जाता है। इन तीनों को दुःखका कारण जान कर तत्त्वज्ञान द्वारा उनका त्याग करना चाहिये। ८।

गृहीत मिथ्यादर्शन और कुगुरु के लक्षण

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोपै चिर दर्शनमोह एव;
अंतर रागादिक धरैं जेह, वाहर धन अम्बरतैं सनेह ॥ ९ ॥

गाथा १० (पूर्वार्द्ध)

धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्म जल उपल नाव;

अन्वयार्थः—(जो जो (कुगुरु) मिथ्या गुरु की (कुदेव) मिथ्या देव की और (कुधर्म) मिथ्या धर्म की (सेव) सेवा करता है, वह (चिर) अति दीर्घकाल तक (दर्शन मोह) मिथ्यादर्शन (एव) ही (पोपै) पोपता है। (जेह) जो (अंतर) अंतर में (रागादिक) मिथ्यात्व राग द्वेप आदि (धरैं) धारण करता है और (वाहर) वाह्य में (धन अम्वरतैं) धन तथा वस्त्रादि से (सनेह) प्रेम रखता है, तथा (महत भाव) महात्मापने का भाव (लहि) ग्रहण करके (कुलिंग) मिथ्या वेपों को (धारैं) धारण करता है वह (कुगुरु) कुगुरु कहलाता है और वह कुगुरु (जन्म जल) संसाररूपी समुद्र में (उपल नाव) पत्थर की नौका समान है।

भावार्थः—कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करने से दीर्घकाल तक मिथ्यात्व का ही पोपण होता है अर्थात् कुगुरु कुदेव और कुधर्म का सेवन ही गृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।

परिग्रह दो प्रकार का है; एक अंतरंग और दूसरा वहिरंग; मिथ्यात्व, राग—द्वेषादि अंतरंग परिग्रह है और वस्त्र, पात्र, धन, मकानादि वहिरंग परिग्रह है। वस्त्रादि सहित होने पर भी अपने को जिनलिंगधारी मानते हैं वे कुगुरु हैं। "जिनमार्ग में तीन लिंग तो श्रद्धा पूर्वक हैं। एक तो जिन स्वरूप–निर्ग्रंथ दिगंबर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकरूप दसवीं–ग्यारहवीं प्रतिमा धारी श्रावकलिंग और तीसरा आर्यिकाओं का रूप–यह स्त्रियों का लिंग, इन तीनके अतिरिक्त कोई चौथा लिंग सम्यग्दर्शन स्वरूप नहीं है; इसलिये इन तीन के अतिरिक्त अन्य लिंगों को जो मानता है उसे जिनमत की श्रद्धा नहीं है, किन्तु वह मिथ्या-दृष्टि है। (दर्शनपाहुड गाथा १८)" इसलिये जो कुलिंग के धारक हैं, मिथ्यात्वादि अंतरंग तथा वस्त्रादि वहिरंग परिग्रह सहित हैं, अपने को मुनि मानते हैं, मनाते हैं वे कुगुरु हैं। जिस-प्रकार पत्थर की नौका डूब जाती है, तथा उसमें बैठने वाले भी डूबते हैं; उसी प्रकार कुगुरु भी स्वयं संसार समुद्र में डूबते हैं और उनकी वंदना तथा सेवा–भक्ति करनेवाले भी अनंत संसार में डूबते हैं अर्थात् कुगुरु की श्रद्धा, भक्ति, पूजा, विनय तथा अनुमोदना करने से गृहीत मिथ्यात्व का सेवन होता है और उससे जीव अनंतकाल तक भवभ्रमण करता है। ९।

गाथा १० (उत्तरार्द्ध)

कुदेव (मिथ्या देव) का स्वरूप

जो रागद्वेष मलकरि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन ॥१०॥

वह परोपदेश आदि बाह्य कारण के आश्रय से ग्रहण किया जाता है इसलिये "गृहीत" कहलाता है। अब गृहीत मिथ्याज्ञान का वर्णन किया जाता है।

गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;
कपिलादि-रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहुदेन त्रास।१३।

अन्वयार्थः—(एकान्तवाद) एकान्तरूप कथन से (दूषित) मिथ्या (विषयादिक) [और] पाँच इन्द्रियों के विषय आदि की (पोषक) पुष्टि करने वाले (कपिलादि रचित) कपिल आदि के रचे हुए (अप्रशस्त) मिथ्या (समस्त) समस्त (श्रुत को) शास्त्रों को (अभ्यास) पढ़ना पढ़ाना, सुनना और सुनाना (सो) वह कुबोध मिथ्याज्ञान [है; वह] (बहु) बहुत (त्रास) दुःख को (देन) देनेवाला है।

भावार्थः—(१) वस्तु अनेक धर्मात्मक है; उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या) तथा विषय कषायादि की पुष्टि करनेवाले कुगुरुओं के रचे हुए सर्व प्रकार के मिथ्या शास्त्रों को धर्मबुद्धि से लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना उसे गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं।

(२) जो शास्त्र जगतमें सर्वथा नित्य, एक, अद्वैत और सर्व-व्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है—ऐसा वर्णन करता है, वह शास्त्र एकान्तवाद से दूषित होने के कारण कुशास्त्र है।

(३) वस्तु को सर्वथा क्षणिक-अनित्य बतलायें, अथवा (४) गुण-गुणी सर्वथा भिन्न हैं, किसी गुण के संयोग से वस्तु है ऐसा कथन करें, अथवा (५) जगत का कोई कर्ता, हर्ता तथा नियंता है ऐसा वर्णन करें, अथवा (६) दया, दान, महाव्रतादि के शुभ-भाव—जो कि पुण्यास्रव हैं उससे, तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से संसार परित (अल्प, मर्यादित) होना बतलायें, तथा उपदेश देने के शुभभावसे धर्म होता है—इत्यादि श्वेतांबरादि ग्रंथोंमे विपरीत कथन है, वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र हैं; क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्व की भूल हो वहा सातों तत्त्वों की भूल होती ही है, ऐसा समझना चाहिये।

गृहीत मिथ्याचारित्र का लक्षण

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देहदाह;
आतम अनातम के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करना छीन ॥१४॥

अन्वयार्थः—(जो) जो (ख्याति) प्रसिद्धि (लाभ) लाभ तथा (पूजादि) मान्यता और आदर—सन्मान आदि की (चाह धरि) इच्छा करके (देहदाह) शरीर को कष्ट देनेवाली (आतम अनात्मको) आत्मा और परवस्तुओं के (ज्ञानहीन) भेदज्ञान से रहित (तन) शरीर को (छीन) क्षीण (करन) करनेवाली (विविध विध) अनेक-प्रकारकी (जे जे करनी) जो-जो क्रियायें हैं वे सब (मिथ्याचारित्र) मिथ्याचारित्र हैं।

भावार्थः—शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान न होने से जो यश, धन-सम्पत्ति, आदर-सत्कार आदि की इच्छा से मानादि कषाय के वशीभूत होकर शरीर को क्षीण करनेवाली अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है उसे "गृहीत मिथ्याचारित्र" कहते हैं।

मिथ्याचारित्र के त्याग का तथा आत्महित में लगने का उपदेश

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित पंथ लाग;
जगजाल-भ्रमणको देहुत्याग, अब दौलत! निज आतम सुपाग॥१५॥
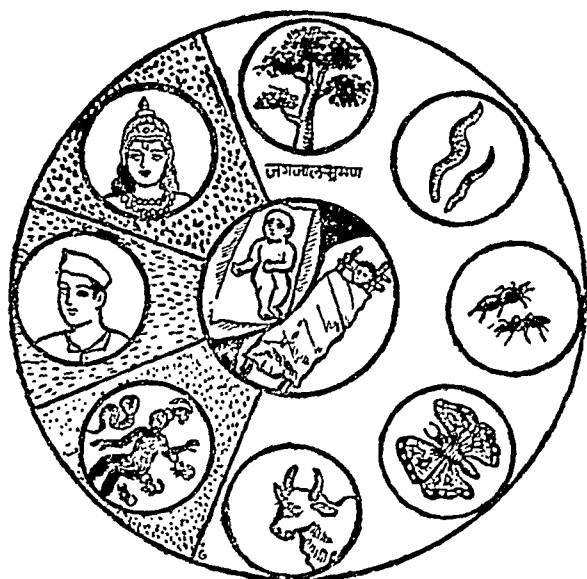
अन्वयार्थः—(ते) उस (सब) समस्त (मिथ्याचारित्र) मिथ्याचारित्र को (त्याग) छोड़कर (अब) अब (आतम के)

आत्मा के (हित) कल्याण के (पंथ) मार्ग में (लाग) लग जाओ, (जगजाल) संसाररूपी जाल में (भ्रमण को) भटकना (देहु त्याग) छोड़ दो (दौलत) हे दौलतराम ! (निज आतम) अपने आत्मा में (अब) अब (सुपाग) भलीभाँति लीन हो जाओ।

भावार्थ:—आत्महितैषी जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करके गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का त्याग करके आत्मकल्याण के मार्ग में लगना चाहिये। श्री पण्डित दौलतरामजी अपने आत्मा को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे आत्मन्! पराश्रय रूप संसार अर्थात् पुण्य-पाप में भटकना छोडकर सावधानी से आत्मस्वरूप में लीन हो।

दूसरी ढालका सारांश

(१) यह जीव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर चार गतियों में परिभ्रमण करके प्रतिसमय अनन्त दुःख भोग रहा है। जबतक देहादि से भिन्न अपने आत्मा की सच्ची प्रतीति तथा रागादि का अभाव न करे तबतक सुख शान्ति और आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता।

(२) आत्महित के लिये (सुखी होने के लिये) प्रथम (१) सच्चे देव, गुरु और धर्म की यथार्थ प्रतीति, (२) जीवादि सात तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति, (३) स्व-परके स्वरूप की श्रद्धा, (४) निज शुद्धात्मा के प्रतिभासरूप आत्मा की श्रद्धा,—इन चार लक्षणों के अविनाभावसहित सत्य श्रद्धा (निश्चय सम्यग्दर्शन) जबतक जीव प्रगट न करे तबतक जीव (आत्मा) का उद्धार नहीं हो सकता अर्थात् धर्म का प्रारम्भ भी नहीं हो सकता; और तबतक आत्मा को अंशमात्र भी सुख प्रगट नहीं होता।

(३) सात तत्त्वों की मिथ्या श्रद्धा करना उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। अपने स्वतंत्र स्वरूप की भूल का कारण आत्मस्वरूप में विपरीत श्रद्धा होने से ज्ञानावरणीयादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा पुण्य-पाप-रागादि मलिनभावों में एकताबुद्धि-कर्ता बुद्धि है; और इसलिये शुभराग तथा पुण्य हितकर है, शरीरादि परपदार्थों की अवस्था (क्रिया) मैं कर सकता हूं, पर मुझे लाभ-हानि कर सकता है, तथा मैं परका कुछ कर सकता हूं;— ऐसी मान्यता के कारण उसे सत्-असत् का विवेक होता ही नहीं। सच्चा सुख तथा हितरूप श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अपने आत्मा के ही आश्रय से होते हैं इस बात की भी उसे खबर नहीं होती।

(४) पुनश्च, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और कुधर्म की श्रद्धा, पूजा, सेवा तथा विनय करने की जो-जो प्रवृत्ति है वह अपने मिथ्यात्वादि महान दोषों को पोषण देनेवाली होने से दुःखदायक है, अनन्त संसार भ्रमण का कारण है। जो जीव उसका सेवन करता है, उसे कर्तव्य समझता है वह दुर्लभ मनुष्य जीवन को नष्ट करता है।

दूसरी ढाल का भेदसंग्रह

इन्द्रियविषयः—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द।

तत्त्वः—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

द्रव्यः—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

मिथ्यादर्शनः—गृहीत, अगृहीत।

मिथ्याज्ञानः—गृहीत (बाह्यकारणप्राप्त); अगृहीत (निसर्गज)।

मिथ्याचारित्रः—गृहीत और अगृहीत (निसर्गज)।

महादुःख—स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान; मिथ्यात्व।

विमानवासीः—कल्पोपपन्न और कल्पातीत।

दूसरी ढाल का लक्षण संग्रह

अनेकान्तः—प्रत्येक वस्तु में वस्तुपने को प्रमाणित-निश्चित करनेवाली अस्तित्व, नास्तित्व आदि परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों का एकसाथ प्रकाशित होना। (आत्मा सदैव स्वरूप से है और पररूप से नहीं है,—ऐसी जो दृष्टि वह अनेकान्त दृष्टि है)।

अमूर्तिकः—रूप, रस, गंध और स्पर्शरहित वस्तु।

आत्माः—जानने-देखने अथवा ज्ञान-दर्शन शक्तिवाली वस्तु को आत्मा कहा जाता है। जो सदा जाने और जानने रूप परिणमित हो उसे जीव अथवा आत्मा कहते हैं।

उपयोगः—जीवकी ज्ञान-दर्शन अथवा जानने-देखने की शक्ति का व्यापार।

(३) सात तत्त्वों की मिथ्या श्रद्धा करना उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। अपने स्वतंत्र स्वरूप की भूल का कारण आत्मस्वरूप में विपरीत श्रद्धा होने से ज्ञानावरणीयादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा पुण्य-पाप-रागादि मलिनभावों में एकताबुद्धि-कर्ता बुद्धि है; और इसलिये शुभराग तथा पुण्य हितकर है, शरीरादि परपदार्थों की अवस्था (क्रिया) मैं कर सकता हूं, पर मुझे लाभ-हानि कर सकता है, तथा मैं परका कुछ कर सकता हूं;— ऐसी मान्यता के कारण उसे सत्-असत् का विवेक होता ही नहीं। सच्चा सुख तथा हितरूप श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अपने आत्मा के ही आश्रय से होते हैं इस बात की भी उसे खबर नहीं होती।

(४) पुनश्च, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और कुधर्म की श्रद्धा, पूजा, सेवा तथा विनय करने की जो-जो प्रवृत्ति है वह अपने मिथ्यात्वादि महान दोषों को पोषण देनेवाली होने से दुःखदायक है, अनन्त संसार भ्रमण का कारण है। जो जीव उसका सेवन करता है, उसे कर्तव्य समझता है वह दुर्लभ मनुष्य जीवन को नष्ट करता है।

(५) अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र जीवको अनादि-काल से होते हैं; फिर वह मनुष्य होने के पश्चात् कुशास्त्र का अभ्यास करके अथवा कुगुरु का उपदेश स्वीकार करके गृहीत मिथ्याज्ञान-मिथ्याश्रद्धा धारण करता है; तथा कुमत का अनुसरण करके मिथ्या-क्रिया करता है; वह गृहीत मिथ्याचारित्र है। इसलिये जीवको भलीभांति सावधान होकर गृहीत तथा अगृहीत— दोनों प्रकार के मिथ्याभाव छोड़ने योग्य हैं; तथा उनका यथार्थ निर्णय करके निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। मिथ्याभावों का सेवन कर-करके, संसार में भटककर, अनन्त जन्म धारण करके अनन्तकाल गँवा दिया; इसलिये अब सावधान होकर आत्मोद्धार करना चाहिये।

दूसरी ढाल का भेदसंग्रह

इन्द्रियविषयः—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द।

तत्त्वः—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

द्रव्यः—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

मिथ्यादर्शनः—गृहीत, अगृहीत।

मिथ्याज्ञानः—गृहीत (बाह्यकारणप्राप्त); अगृहीत (निसर्गज)।

मिथ्याचारित्रः—गृहीत और अगृहीत (निसर्गज)।

महादुःख—स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान; मिथ्यात्व।

विमानवासीः—कल्पोपपन्न और कल्पातीत।

दूसरी ढाल का लक्षण संग्रह

अनेकान्तः—प्रत्येक वस्तु में वस्तुपने को प्रमाणित-निश्चित करनेवाली अस्तित्व, नास्तित्व आदि परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों का एकसाथ प्रकाशित होना। (आत्मा सदैव स्वरूप से है और पररूप से नहीं है,—ऐसी जो दृष्टि वह अनेकान्त दृष्टि है)।

अमूर्तिकः—रूप, रस, गंध और स्पर्शरहित वस्तु।

आत्माः—जानने-देखने अथवा ज्ञान-दर्शन शक्तिवाली वस्तु को आत्मा कहा जाता है। जो सदा जाने और जानने रूप परिणमित हो उसे जीव अथवा आत्मा कहते हैं।

उपयोगः—जीवकी ज्ञान-दर्शन अथवा जानने-देखने की शक्ति का व्यापार।

एकान्तवादः—अनेक धर्मों की सत्ता की अपेक्षा न रखकर वस्तु का एक ही रूपसे निरूपण करना।

दर्शनमोहः—आत्मा के स्वरूप की विपरीत श्रद्धा।

द्रव्यहिंसाः—त्रस और स्थावर प्राणियों का घात करना।

***भावहिंसाः**—मिथ्यात्व तथा राग–द्वेषादि विकारों की उत्पत्ति।

मिथ्यादर्शनः—जीवादि तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा।

मूर्तिकः—रूप, रस, गंध और स्पर्शसहित वस्तु।

अन्तर–प्रदर्शन

(१) आत्मा और जीव में कोई अन्तर नहीं है, पर्यायवाचक शब्द हैं।

(२) अगृहीत (निसर्गज) तो उपदेशादिक के निमित्त विना होता है, परन्तु गृहीत में उपदेशादि निमित्त होते हैं।

(३) मिथ्यात्व और मिथ्यादर्शन में कोई अन्तर नहीं है, मात्र दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं।

(४) सुगुरु में मिथ्यात्वादि दोष नहीं होते किन्तु कुगुरु में होते हैं। विद्यागुरु तो सुगुरु और कुगुरु से भिन्न व्यक्ति है। मोक्षमार्ग के प्रसंग में तो मोक्षमार्ग के प्रदर्शक सुगुरु से तात्पर्य है।

दूसरी ढाल की प्रश्नावली

(१) अगृहीत-मिथ्याचारित्र, अगृहीत-मिथ्याज्ञान, अगृहीत-मिथ्यादर्शन, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म, गृहीत–मिथ्यादर्शन, गृहीत

---

* अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥ (पुरु. सि.)

अर्थः—वास्तवमें रागादि भावों का प्रगट न होना सो अहिंसा है, और रागादि भावों की उत्पत्ति होना सो हिंसा है—ऐसा जैनशास्त्र का संक्षिप्त रहस्य है।

मिथ्याज्ञान, गृहीत-मिथ्याचारित्र, जीवादि छह द्रव्य इन सबका लक्षण बतलाओ।

(२) मिथ्यात्व और मिथ्यादर्शन में, अगृहीत (निसर्गज) और गृहीत (बाह्य कारणों से नवीन ग्रहण किया हुआ) में, आत्मा और जीव में तथा सुगुरु, कुगुरु और विद्यागुरु में क्या अन्तर है वह बतलाओ।

(३) अगृहीत का नामान्तर, आत्महित का मार्ग, एकेन्द्रिय को ज्ञान न मानने से हानि, कुदेवादि की सेवा से हानि; दूसरी ढाल में कही हुई वास्तविकता, मृत्युकाल में जीव निकलते हुए दिखाई नहीं देता उसका कारण, मिथ्यादृष्टि की रुचि, मिथ्यादृष्टि की अरुचि, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र की सत्ता का काल, मिथ्यादृष्टि को दुःख देनेवाली वस्तु, मिथ्या—धार्मिक कार्य करने कराने वा उसमें सम्मत होने से हानि तथा सात तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा के प्रकारादि का स्पष्ट वर्णन करो।

(४) आत्महित, आत्मशक्ति का विस्मरण, गृहीत मिथ्यात्व, जीव-तत्त्व की पहिचान न होने में किसका दोष है, तत्त्व का प्रयोजन, दुःख, मोक्ष सुख की अप्राप्ति और संसार परि-भ्रमण के कारण दर्शाओ।

(५) मिथ्यादृष्टि का आत्मा, जन्म और मरण, कष्टदायक वस्तु आदि सम्बन्धी विचार प्रगट करो।

(६) कुगुरुदेव और मिथ्याचारित्र आदि के दृष्टान्त दो। आत्महित-रूप धर्म के लिये प्रथम व्यवहार या निश्चय?

(७) कुगुरु तथा कुधर्म का सेवन और रागादिभाव आदि का फल बतलाओ। मिथ्यात्व पर एक लेख लिखो। अनेकान्त क्या है? राग तो बाधक ही है, तथापि व्यवहार मोक्षमार्ग को (शुभराग को) निश्चय का हेतु क्यों कहा है?

(८) अमुक शब्द, चरण अथवा छन्द का अर्थ और भावार्थ बतलाओ। दूसरी ढाल का सारांश समझाओ।

❀ तीसरी ढाल ❀

नरेन्द्र छन्द (जोगीरासा)

आत्महित, सच्चा सुख तथा दो प्रकार से मोक्षमार्ग का कथन

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये;
आकुलता शिवमाँहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव, मग सो द्विविध विचारो;
जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो ॥१॥
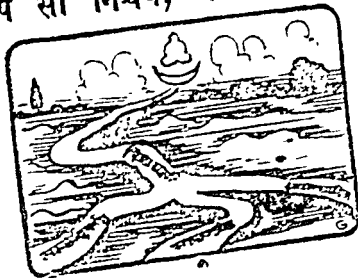
अन्वयार्थः—(आतम को) आत्मा का (हित) कल्याण (है) है (सुख) सुख की प्राप्ति, (सो सुख) वह सुख (आकुलता विन) आकुलता रहित (कहिये) कहा जाता है। (आकुलता) आकुलता (शिवमांहि) मोक्ष में (न) नहीं है (तातैं) इसलिये (शिवमग) मोक्षमार्ग में (लाग्यो) लगना (चहिये) चाहिये। (सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चरन) सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र इन तीनों की एकता वह (शिवमग) मोक्ष का मार्ग है। (सो) उस मोक्षमार्ग का (द्विविध) दो प्रकार से (विचारो) विचार करना चाहिये कि (जो) जो (सत्यारथरूप) वास्तविक स्वरूप है (सो) वह (निश्चय) निश्चय—मोक्षमार्ग है और (कारण) जो निश्चय-मोक्षमार्ग का निमित्तकारण है (सो) उसे (व्यवहारो) व्यवहार-मोक्षमार्ग कहते हैं।

भावार्थ :—(१) सम्यक्चारित्र निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही होता है। जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक्-भावश्रुत—ज्ञान होता है। और निश्चयनय तथा व्यवहारनय यह दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव (अंश) हैं, इसलिये मिथ्यादृष्टि को निश्चय या व्यवहारनय हो ही नहीं सकते; इसलिये "व्यवहार प्रथम होता है और निश्चयनय बाद में प्रगट होता है"—ऐसा माननेवाले को नयोंके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है।

(२) तथा नय निरपेक्ष नहीं होते। निश्चय—सम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व यदि व्यवहारनय हो तो निश्चयनय की अपेक्षा-रहित निरपेक्षनय हुआ; और यदि पहले अकेला व्यवहारनय हो तो अज्ञानदशा में सम्यग्नय मानना पड़ेगा; किन्तु "निरपेक्षानयाः मिथ्या सापेक्षावस्तु तेऽर्थकृत्" (आप्तमीमांसा श्लोक-१०८) ऐसा आगम का वचन है; इसलिये अज्ञानदशा में किसी जीव को

व्यवहारनय नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहाराभास अथवा निश्चयाभास रूप मिथ्यानय हो सकता है।

(३) जीव निज ज्ञायक स्वभाव के आश्रयद्वारा निश्चयरत्नत्रय (मोक्षमार्ग) प्रगट करे तब सर्वज्ञकथित नव तत्त्व, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा सम्बन्धी रागमिश्रित विचार तथा मन्दकषायरूप शुभभाव-जो कि उस जीव को पूर्वकाल में था उसे भूतनैगमनय से व्यवहारकारण कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश, अ. २ गाथा १४ की टीका)। तथा उसी जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग और निमित्त किसप्रकार के होते हैं, उनका सहचरपना बतलाने के लिये वर्तमान शुभराग को व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है, ऐसा कहने का कारण यह है कि उससे भिन्न प्रकार के (विरुद्ध) निमित्त उस दशा में किसी को हो नहीं सकते।—इस प्रकार निमित्त-व्यवहार होता है तथापि वह यथार्थ कारण नहीं है।

(४) आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है, इसलिये आत्मा के आश्रय से ही सुख प्रगट हो सकता है, किन्तु किसी निमित्त या व्यवहार के आश्रय से सुख प्रगट नहीं हो सकता।

(५) मोक्षमार्ग तो एक ही है; वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र की एकतारूप है। (प्रवचनसार गाथा ८२-१९९, तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक) देहली (पृष्ठ ४६२)

(६) अब, "मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ मोक्षमार्ग के रूप में सच्चे मोक्षमार्ग की प्ररूपणा की है वह निश्चयमोक्षमार्ग है; तथा जहाँ, जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है अथवा सहचारी है वहाँ उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहें तो वह व्यवहार मोक्षमार्ग है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है अर्थात् यथार्थ निरूपण वह निश्चय और उपचार निरूपण वह व्यवहार। इसलिये निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार का मोक्षमार्ग

जानना। किंतु एक निश्चयमोक्षमार्ग है और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग है-इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली) पृष्ठ ३६५-३६६)।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप

परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, सम्यक्त्व भला है;
आपरूप को जानपनों सो, सम्यग्ज्ञान कला है।
आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यग्चारित सोई;
अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई ॥२॥
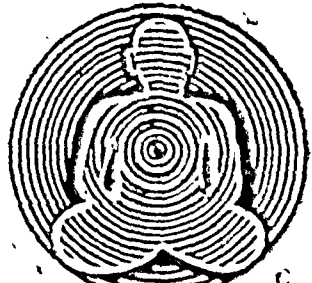
निश्चय-सम्यक्चारित्र

अन्वयार्थः—(आपमें) आत्मा में (परद्रव्यनतैं) परवस्तुओं से (भिन्न) भिन्नत्व की (रुचि) श्रद्धा करना सो (भला) निश्चय (सम्यक्त्व) सम्यग्दर्शन है, (आपरूप को) आत्मा के स्वरूप को (परद्रव्यनतैं भिन्न) परद्रव्यों से भिन्न (जानपनों) जानना (सो) वह (निश्चय सम्यग्ज्ञान) निश्चय सम्यग्ज्ञान (कला) प्रकाश (है) (परद्रव्यनतैं भिन्न) परद्रव्यों से भिन्न ऐसे (आपरूप में) आत्मस्वरूप में (थिर) स्थिरतापूर्वक (लीन रहे) लीन होना सो (सम्यग्चारित) निश्चय सम्यक्चारित्र (सोई) है। (अब) अब

(व्यवहार मोक्षमग) व्यवहार मोक्षमार्ग (सुनिये) सुनो कि जो व्यवहारमोक्षमार्ग (नियतको) निश्चय मोक्षमार्ग का (हेतु) निमित्तकारण (होई) है।

भावार्थः—पर पदार्थों से त्रिकाल भिन्न ऐसे निज आत्मा का अटल विश्वास करना उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानना (ज्ञान करना) उसे निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। तथा परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूप में एकाग्रता से मग्न होना वह निश्चय सम्यक्चारित्र (यथार्थ आचरण) कहलाता है। अब आगे व्यवहार-मोक्षमार्ग का कथन किया जाया जाता है। क्योंकि जब निश्चय-मोक्षमार्ग हो तब व्यवहार-मोक्षमार्ग निमित्तरूप में कैसा होता है वह जानना चाहिये।

व्यवहारसम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का स्वरूप

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बन्ध रु संवर जानो;
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यों का त्यों सरधानो।
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो;
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दिढ प्रतीत उर आनो॥ ३॥
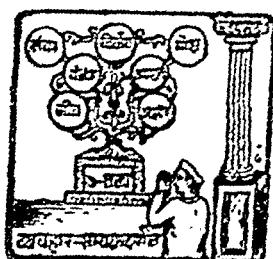
अन्वयार्थः—(जिन) जिनेन्द्रदेव ने (जीव) जीव, (अजीव) अजीव, (आस्रव) आस्रव, (बन्ध) बन्ध, (संवर) संवर, (निर्जर)

निर्जरा, (अरु) और (मोक्ष) मोक्ष, (तत्त्व) यह सात तत्त्व (कहे) कहे हैं; (तिनको) उन सबकी (ज्यों का त्यों) यथावत्–यथार्थरूप से (सरधानो) श्रद्धा करो। (सोई) इसप्रकार श्रद्धा करना सो (समकित व्यवहारी) व्यवहार से सम्यग्दर्शन है। अब (इन रूप) इन सात तत्त्वों के रूप का (बखानो) वर्णन करते हैं; (तिनको) उन्हें (सामान्य विशेषैं) संक्षेप से तथा विस्तार से (सुन) सुनकर (उर) मन में (दिढ़) अटल (प्रतीत) श्रद्धा (आनो) करो।

भावार्थः—(१) निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन कैसा होता है उसका यहाँ वर्णन है। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता। निश्चय श्रद्धा-सहित सात तत्त्वों की विकल्प–रागसहित श्रद्धा को व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

(२) तत्त्वार्थसूत्र में "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" कहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृष्ठ ४७७ तथा पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय गाथा २२)

यहाँ जो सात तत्त्वों की श्रद्धा कही है वह भेदरूप है—रागसहित है, इसलिये वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चय मोक्ष-मार्ग में कैसा निमित्त होता है वह बतलाने के लिये यहाँ तीसरी गाथा कही है; किन्तु उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि निश्चयस-म्यक्त्व के बिना किसी को व्यवहारसम्यक्त्व हो सकता है।

जीव के भेद, बहिरात्मा और उत्तम अंतरात्मा का लक्षण

बहिरातम, अंतर्आतम परमातम, जीव त्रिधा हैं;
देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा हैं।

उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर-आतम ज्ञानी;
द्विविध संगविन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी ॥४॥

अन्वयार्थः—(वहिरांतम) वहिरात्मा, (अंतर् आतम) अन्तरात्मा [और] (परमातम) परमात्मा, [इसप्रकार] (जीव) जीव (त्रिधा) तीन प्रकार के (है) हैं; [उनमें] (देह जीव को) शरीर और आत्मा को (एक गिने) एक मानते हैं वे (वहिरातम) वहिरात्मा हैं [और वे वहिरात्मा] (तत्त्वमुधा) यथार्थ तत्त्वों से अजान अर्थात् तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। (आतमज्ञानी) आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानकर यथार्थ निश्चय करनेवाले (अन्तर् आतम) अन्तरात्मा [कहलाते हैं; वे] (उत्तम) उत्तम (मध्यम) मध्यम और (जघन) जघन्य ऐसे (त्रिविध) तीन प्रकार के हैं; [उनमें] (द्विविध) अंतरंग तथा वहिरंग ऐसे दो प्रकार के (संगविन) परिग्रह रहित (शुध उपयोगी) शुद्ध उपयोगी (निजध्यानी) आत्मध्यानी (मुनि) दिगम्बर मुनि (उत्तम) उत्तम अंतरात्मा हैं।

भावार्थः—जीव (आत्मा) तीन प्रकार के हैं—(१) वहिरात्मा; (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। उनमें जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं उन्हें वहिरात्मा कहते हैं; वे तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। जो शरीर और आत्मा को अपने भेदविज्ञान से भिन्न-भिन्न मानते हैं वे अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं। अंतर् आत्मा के तीन भेद हैं-उत्तम, मध्यम और जघन्य। उनमें अंतरंग तथा वहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित सातवें से लेकर वारहवें गुणस्थान तक वर्तते हुए शुद्ध-उपयोगी आत्मध्यानी दिगम्बर मुनि उत्तम अंतरात्मा हैं।

जीव के भेद—उपभेद

जीवके भेद-उपभेद
आत्मा
परमात्मा
बहिरात्मा
अन्तरात्मा
सिद्ध
(निकल)
अरहंत (सकल)
उत्तम
मध्यम
जघन्य
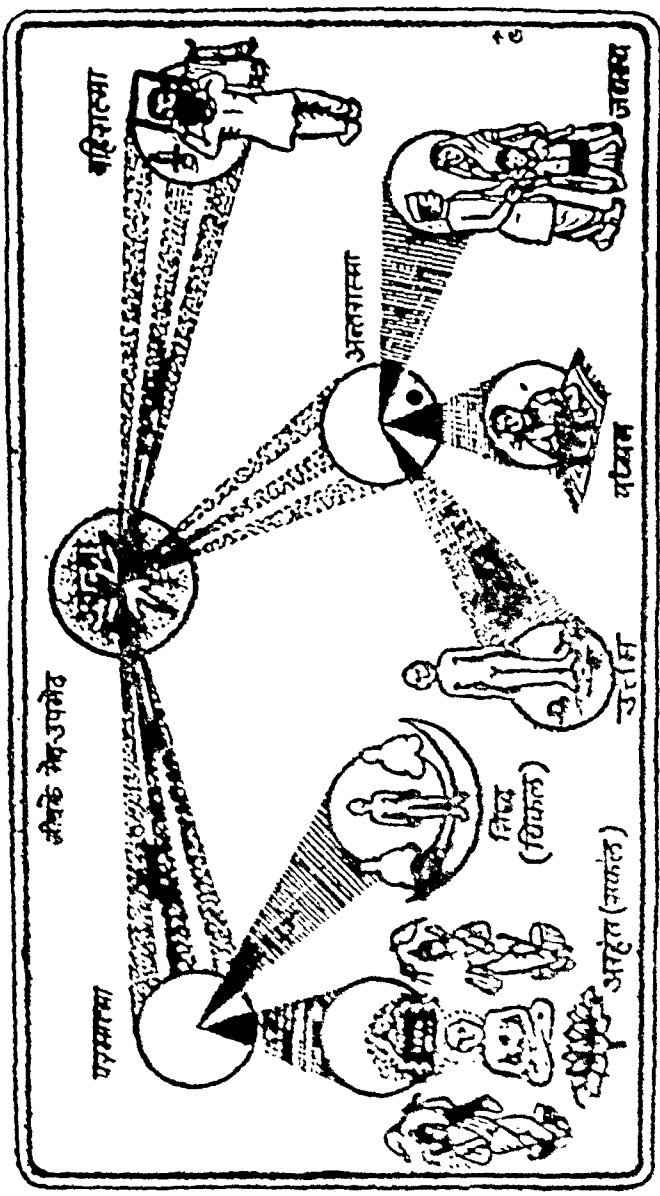
मध्यम और जघन्य अंतरात्मा तथा सकल परमात्मा

मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी;
जघन कहे अविरत-समदृष्टि, तीनों शिवमग-चारी।
सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी;
श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी ॥५॥

अन्वयार्थः—(अनगारी) छठवें गुणस्थान के समय अंतरंग और वहिरंग परिग्रह रहित यथाजातरूपधर–भावलिंगी मुनि मध्यम अंतरात्मा हैं तथा (देशव्रती) दो कषाय के अभाव सहित ऐसे पंचमगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि श्रावक (मध्यम) मध्यम (अन्तर आतम) अन्तरात्मा (हैं) हैं और (अविरत) व्रतरहित (समदृष्टि) सम्यग्दृष्टि जीव (जघन) जघन्य अन्तरात्मा (कहे) कहलाते हैं; (तीनों) यह तीनों (शिवमगचारी) मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं। (सकल निकल) सकल और निकल के भेद से (परमातम) परमात्मा (द्वैविध) दो प्रकार के हैं (तिनमें) उनमें (घाति) चार घातिकर्मों को (निवारी) नाश करनेवाले (लोकालोक) लोक तथा अलोक को (निहारी) जानने-देखनेवाले (श्रीअरिहन्त) अरहन्त परमेष्ठी (सकल) शरीर सहित परमात्मा हैं।

भावार्थः—(१) जो निश्चयसम्यग्दर्शनादि सहित हैं; तीन कषाय रहित, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म को अंगीकार करके अंतरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, किसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर रागद्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही जिन्हें नहीं रहा है ऐसी अन्तरंगदशासहित वाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं और छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान के समय अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डरूप से

पालन करते हैं वे, तथा जो अनन्तानुवन्धी तथा अप्रत्याख्यानीय ऐसे दो कषाय के अभावसहित सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं वे मध्यम अन्तरात्मा हैं; अर्थात् छठवें और पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम अंतरात्मा हैं।*

(२) सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता; जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है वह जीव बहिरात्मा है। (३) परमात्मा के दो प्रकार हैं—सकल और निकल। (१) श्री अरिहन्तपरमात्मा वे [1]सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं, (२) सिद्ध परमात्मा वे [2]निकल परमात्मा हैं। वे दोनों सर्वज्ञ होने से लोक और अलोक सहित सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले, सबके ज्ञाता-द्रष्टा हैं; इससे निश्चित होता है कि—जिसप्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवस्थित है, उसी प्रकार उनके ज्ञानके ज्ञेय-सर्व द्रव्य-छहों द्रव्यों की त्रैकालिक क्रमबद्ध पर्यायें निश्चित-व्यवस्थित हैं; कोई पर्याय उलटी-सीधी अथवा अव्यवस्थित नहीं होती, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है। जिसकी ऐसी मान्यता (—निर्णय) नहीं होती उसे स्व-परपदार्थों का निश्चय न होने से शुभाशुभ विकार और परद्रव्य के साथ कर्ताबुद्धि-एकताबुद्धि होती ही है। इसलिये वह जीव बहिरात्मा है।

---

* सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
श्रावकगुणैस्तु युक्ताः, प्रमत्तविरताश्च मध्यमाः भवन्ति।

अर्थः—श्रावक के गुणों से युक्त और प्रमत्तविरत मुनि मध्यम अन्तरात्मा है। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा-१९६)

१-स = सहित, कल = शरीर: सकल अर्थात् शरीर सहित।
२-नि = रहित, कल = शरीर; निकल अर्थात् शरीर रहित।

निकल परमात्मा का लक्षण तथा परमात्मा के ध्यान का उपदेश।

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्ममल-वर्जित सिद्ध महन्ता;
ते हैं निकल अमल परमातम भोगैं शर्म अनन्ता।
वहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै;
परमातम को ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै॥ ६॥

अन्वयार्थः—(ज्ञानशरीरी) ज्ञानमात्र जिनका शरीर है ऐसे, (त्रिविध) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म तथा औदारिक शरीरादि नोकर्म, ऐसे तीन प्रकार के (कर्ममल) कर्मरूपी मैल से (वर्जित) रहित, (अमल) निर्मल और (महन्ता) महान (सिद्ध) सिद्ध परमेष्ठी (निकल) निकल (परमातम) परमात्मा हैं। वे (अनन्ता) अपरिमित (शर्म) सुख (भोगैं) भोगते हैं। इन तीनों में (वहिरातमता) वहिरात्मपने को (हेय) छोड़ने योग्य (जानि) जानकर और (तजि) उसे छोड़कर (अन्तर आतम) अन्तरात्मा (हूजै) होना चाहिये और [निरन्तर (सदा) परमातमको [निज] परमात्मपद का (ध्याय) ध्यान करना चाहिये; (जो) जिसके द्वारा (नित) नित्य अर्थात् अनन्त (आनन्द) आनन्द (पूजै) प्राप्त कियां जाता है।

भावार्थः—औदारिक आदि शरीर रहित शुद्ध ज्ञानमय, द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित, निर्दोष और पूज्य सिद्ध परमेष्ठी 'निकल' परमात्मा कहलाते हैं; वे अक्षय अनन्तकाल तक अनन्तसुख का अनुभव करते रहते हैं। इन तीन में वहिरात्मपना मिथ्यात्वसहित होने के कारण हेय (छोड़ने योग्य) है, इसलिये आत्महितैषियों को चाहिये कि उसे छोड़कर, अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) बनकर परमात्मपना प्राप्त करें; क्योंकि उससे सदैव सम्पूर्ण और अनन्त आनन्द (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

अजीव–पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्य के लक्षण तथा भेद

चेतनता विन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं;
पुद्गल पंच वरन-रस, गंध-दो फरस वसू जाके हैं।
जिय पुद्गल को चलन सहाई, धर्म द्रव्य अनरूपी;
तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जिन विन-मूर्ति निरूपी ॥७॥

अन्वयार्थः—जो (चेतनता-विन) चेतनता रहित है (सो) वह अजीव है; (ताके) उस अजीव के (पंच भेद) पाँच भेद हैं; (जाके पंच वरन-रस) जिसके पाँच वर्ण और रस, दो गन्ध और (वसू) आठ (फरस) स्पर्श (हैं) होते हैं वह पुद्गलद्रव्य है। जो जीव को [और] (पुद्गल को) पुद्गल को (चलन सहाई) चलने में निमित्त [और] (अनरूपी) अमूर्तिक हैं वह (धर्म) धर्मद्रव्य है। तथा (तिष्ठत) गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त [जीव और पुद्गल को] (सहाई) निमित्त (होय) होता है वह (अधर्म) अधर्म द्रव्य है। (जिन) जिनेन्द्रभगवान ने उस अधर्म द्रव्य को (विनमूर्ति) अमूर्तिक, (निरूपी) अरूपी कहा है।

भावार्थः—जिसमें चेतना (ज्ञान-दर्शन अथवा जानने-देखने की शक्ति) नहीं होती, उसे अजीव कहते हैं। उस अजीव के पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, *अधर्म, आकाश और काल। जिसमें रूप, रस, गंध वर्ण और स्पर्श होते हैं उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जो स्वयं गति करते हैं ऐसे जीव और पुद्गल को चलने में निमित्तकारण होता है वह धर्मद्रव्य है; तथा जो स्वयं (अपने

---

* धर्म और अधर्म से यहाँ पुण्य और पाप नहीं, किन्तु छह द्रव्यों में आने वाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो अजीव द्रव्य समझना चाहिये।

धर्म
अधर्म
काल
आकाश
निश्चय
व्यवहार
लोकाकाश
अलोकाकाश
पीला
कषायला
मीठा
चरपरा
कडुआ
खट्टा
हलका
भारी
चिकना
ठण्डा
गरम
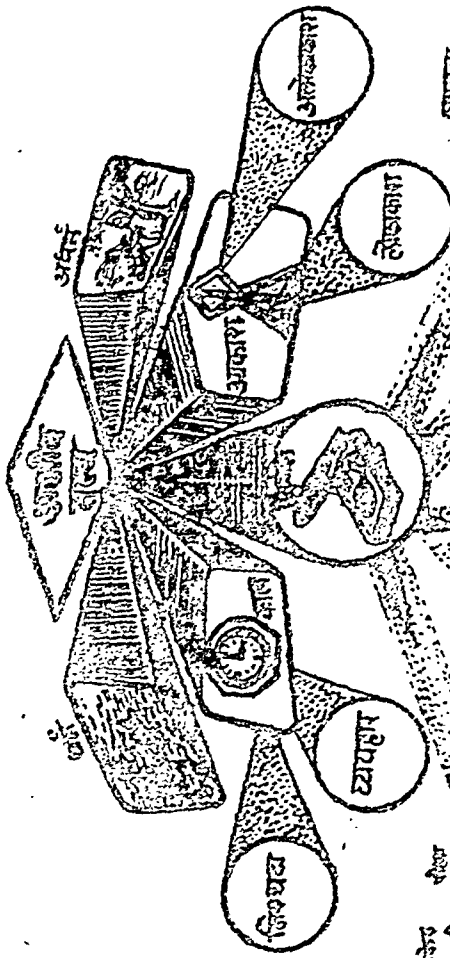
आप) गतिपूर्वक स्थिर रहे हुए जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में निमित्तकारण है वह अधर्मद्रव्य है। जिनेन्द्रभगवान ने इन धर्म, अधर्म द्रव्यों को, तथा जो आगे कहे जायेंगे उन आकाश और काल द्रव्यों को अमूर्तिक (इन्द्रिय-अगोचर) कहा है। ७।

आकाश, काल और आस्रव के लक्षण अथवा भेद

सकल द्रव्य को वास जास में, सो आकाश पिछानो;
नियत वर्तना निशि-दिन सो, व्यवहारकाल परिमानो।
यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा;
मिथ्या अविरत अरु कषाय, परमाद सहित उपयोगा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(जास में) जिसमें (सकल) समस्त (द्रव्य को) द्रव्यों का (वास) निवास है (सो) वह (आकाश) आकाश द्रव्य (पिछानो) जानना; (वर्तना) स्वयं प्रवर्तित हो और दूसरों को प्रवर्तित होने में निमित्त हो वह (नियत) निश्चय कालद्रव्य है; तथा (निशिदिन) रात्रि, दिवस आदि (व्यवहारकाल) व्यवहार-काल (परिमानो) जानो। (यों) इसप्रकार (अजीव) अजीवतत्त्व का वर्णन हुआ। (अब) अब (आस्रव) आस्रवतत्त्व (सुनिये) सुनो। (मन-वचनकाय) मन, वचन और काया के आलम्बन से

आत्मा के प्रदेश चञ्चल होनेरूप (त्रियोगा) तीन प्रकार के योग तथा मिथ्यात्व, अविरत, कषाय (अरु) और (परमाद) प्रमाद (सहित) सहित (उपयोग) आत्माकी प्रवृत्ति वह (आस्रव) आस्रवतत्त्व कहलाता है।

भावार्थः—जिसमें छह द्रव्यों का निवास है उस स्थान को +आकाश कहते हैं। जो अपनेआप बदलता है तथा अपनेआप बदलते हुए अन्य द्रव्यों को बदलने में निमित्त है उसे "*निश्चय-काल" कहते हैं। रात, दिन, घड़ी, घण्टा आदि को "व्यवहार-काल" कहा जाता है।—इसप्रकार अजीवतत्त्व का वर्णन हुआ। अब, आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हैं। उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ऐसे पाँच भेद हैं। ८। [आस्रव और बन्ध और दोनों में भेदः—जीव के मिथ्यात्व-मोह-रागद्वेषरूप परिणाम वह भाव आस्रव है और उस मलिन भावोंमें स्निग्धता वह भावबन्ध है]

+ जिसप्रकार किसी बरतन में पानी भरकर उसमें भस्म (राख) डाली जाये तो वह समा जाती है; फिर उसमें शर्करा डाली जाये तो वह भी समाजाती है; फिर उसमें सुइयाँ डाली जायें तो वे भी समा जाती हैं; उसीप्रकार आकाशमें भी मुख्य (-खास) अवगाहन शक्ति है; इसलिये उसमें सर्वद्रव्य एकसाथ रह सकते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को रोकता नहीं है।

* अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं परिणमित होते हुए जीवादिक द्रव्योंके परिणमनमें जो निमित्त हो उसे कालद्रव्य कहते हैं। जिसप्रकार कुम्हार के चाकको घूमने में धुरी (कीली।) कालद्रव्य को निश्चयकाल कहते हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य (कालाणु) हैं। दिन, घड़ी घण्टा, मास-उसे व्यवहारकाल कहते हैं। (जैन सि. प्रवेशिका)।

आस्रवत्याग का उपदेश और बन्ध, संवर, निर्जरा का लक्षण

ये ही आतम को दुःख-कारण, तातैं इनको तजिये;
जीव प्रदेश बंधै विधि सों सो, बंधन कबहुँ न सजिये।
शम-दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये;
तप-बल तैं विधि-झरन निरजरा, ताहि सदा आचरिये ॥ ९ ॥
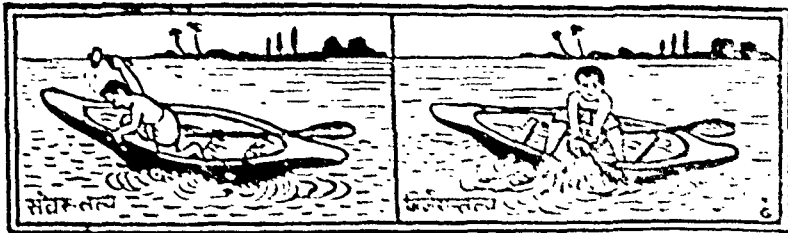
अन्वयार्थः—(ये ही) यह मिथ्यात्वादि ही (आतम को) आत्माको (दुःखकारण) दुःख का कारण हैं (तातैं) इसलिये (इनको) इन मिथ्यात्वादि को (तजिये) छोड़ देना चाहिये। (जीवप्रदेश) आत्मा के प्रदेशों का (विधिसों) कर्मों से (बंधै) बँधना वह (बंधन) बन्ध [कहलाता है.] (सो) वह [बन्ध] (कबहुँ) कभी भी (न सजिये) नहीं करना चाहिये। (शम)

कषायों का अभाव [और] (दम तैं) इन्द्रियों तथा मन को जीतने से (कर्म) कर्म (न आवैं) नहीं आयें वह (संवर) संवरतत्त्व है; (ताहि) उस संवर को (आदरिये) ग्रहण करना चाहिये। (तपवल तैं) तप की शक्ति से (विधि) कर्मों का (झरन) एकदेश खिर जाना सो (निरजरा) निर्जरा कहलाती है। (ताहि) उस निर्जरा को (सदा) सदैव (आचरिये) प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थः—(१) यह मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दुःख का कारण हैं, किन्तु परपदार्थ दुःख का कारण नहीं हैं; इसलिये अपने दोषरूप मिथ्या भावों का अभाव करना चाहिये। स्पर्शों के साथ पुद्गलों का वन्ध, रागादि के साथ जीव का वन्ध और अन्योन्य-अवगाह वह पुद्गल-जीवात्मक वन्ध कहा है। (प्रवचनसार गाथा, १७७।) रागपरिणाममात्र ऐसा जो भाववन्ध है वह द्रव्यवन्ध का हेतु होने से वही निश्चयवन्ध है जो छोड़ने योग्य है।

(२) मिथ्यात्व और क्रोधादिरूप भाव-उन सवको सामान्यरूपसे कषाय कहा जाता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक (देहली०) पृष्ठ ४०) ऐसे कषाय के अभाव को शम कहते हैं। और दम अर्थात् जो ज्ञेयज्ञायक संकर दोष टालकर, इन्द्रियों को जीतकर, ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (पृथक्, परिपूर्ण) आत्मा को जानता है उसे,—निश्चयनय में स्थित साधु वास्तव में—जितेन्द्रिय कहते हैं। (समयसार गाथा, ३१)।

स्वभाव-परभाव के भेदज्ञान द्वारा द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा उनके विषयों से आत्मा का स्वरूप भिन्न है—ऐसा जानना उसे इन्द्रिय-दमन कहते हैं। परन्तु आहारादि तथा पाँच इन्द्रियों के विषयरूप वाह्य वस्तुओंके त्यागरूप जो मन्दकषाय है उससे

वास्तवमें इन्द्रिय-दमन नहीं होता, क्योंकि वह तो शुभराग है, पुण्य है, इसलिये वन्ध का कारण है-ऐसा समझना।

(३) शुद्धात्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही संवर है। प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर स्वद्रव्य के आलम्बनानुसार संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है। क्रमशः जितने अंश में राग का अभाव हो, उतने अंश में संवर-निर्जरारूप धर्म होता है। स्वोन्मुखता के वल से शुभाशुभ इच्छा का निरोध सो तप है। उस तप से निर्जरा होती है।

(४) संवरः—पुण्य-पापरूप अशुद्ध भाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध भाव द्वारा रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्मों का आना स्वयं-स्वतः रुक जाये सो द्रव्यसंवर है।

(५) निर्जराः—अखण्डानन्द निज शुद्धात्मा के लक्ष से अंशतः शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि की अंशतः हानि करना सो भावनिर्जरा है; और उस समय खिरने योग्य कर्मों का अंशतः छूट जाना सो द्रव्यनिर्जरा है। (लघु जैन सिद्धान्त प्र. पृष्ठ ४५-४६ प्रश्न १२१)

(६) जीव-अजीव को उनके स्वरूप सहित जानकर स्वयं तथा परको यथावत् मानना, आस्रव को जानकर उसे हेयरूप, वन्ध को जानकर उसे अहितरूप, संवर को पहिचानकर उसे उपादेयरूप तथा निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण मानना चाहिये। *(मोक्षमार्ग प्र० अ० ९, पृष्ठ ४६९)

---

* आस्रव आदि के दृष्टान्त

(१) आस्रवः—जिसप्रकार किसी नौका में छिद्र हो जाने से उसमें पानी आने लगता है, उसीप्रकार मिथ्यात्वादि आस्रव से [illegible] आत्मा में कर्म आने लगते हैं।

(२) बंध—जिसप्रकार छिद्र द्वारा पानी नौका में भर जाता है, उसीप्रकार कर्मपरमाणु आत्मा के प्रदेशों में पहुंचते हैं (एक क्षेत्रमें रहते हैं।)

मोह का लक्षण, व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण तथा कारण

सकल कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव, स्थिर सुखकारी;
इति विध जो सरधा तत्त्वन की, सो समकित व्यवहारी।
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह विन, धर्म दयाजुत सारो;
ये हु मान समकित को कारण, अष्ट–अंग–जुत धारो ॥ १० ॥
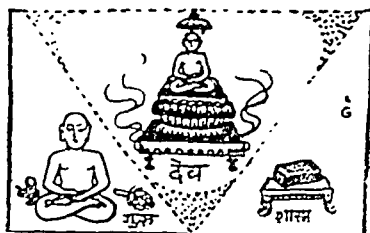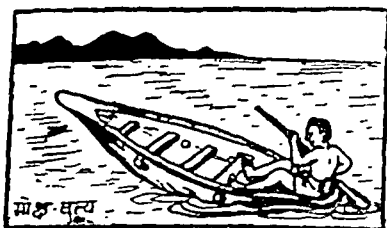
अन्वयार्थः—(सकल कर्मतैं) समस्त कर्मों से (रहित) रहित (थिर) स्थिर–अटल (सुखकारी) अनन्त सुखदायक (अवस्था) दशापर्याय सो (शिव) मोक्ष कहलाता है। (इहि विध) इस प्रकार

---

(३) संवरः—जिसप्रकार छिद्र वन्द करने से नौका में पानी का आना रुक जाता है, उसीप्रकार शुद्धभावरूप गुप्ति आदि के द्वारा आत्मा में कर्मों का आना रुक जाता है।

(४) निर्जराः—जिसप्रकार नौका में आये हुए पानी में से थोड़ा (किसी बरतन में भरकर) बाहर फेंक दिया जाता है, उसीप्रकार निर्जरा द्वारा थोड़े–से कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं।

(५) मोक्षः—जिसप्रकार नौका में आया हुआ सारा पानी निकाल देने से नौका एकदम पानी रहित हो जाती है, उसीप्रकार आत्मामें से समस्त कर्म पृथक् हो जाने से आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध दशा (मोक्षदशा) प्रगट हो जाती है अर्थात् आत्मा मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

(जो) जो (तत्त्वनकी) सात तत्त्वों के भेदसहित (सरधा) श्रद्धा करना सो (व्यवहारी) व्यवहार (समकित) सम्यग्दर्शन है। (जिनेन्द्र) वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी (देव) सच्चे देव (परिग्रह विन) चौवीस परिग्रह से रहित (गुरु) वीतराग गुरु [तथा] (सारो) सारभूत (दयाजुत) अहिंसामय (धर्म) जैनधर्म (ये हु) इन सबको (समकित को) सम्यग्दर्शन का (कारण) निमित्तकारण (मान) जानना चाहिये। सम्यग्दर्शन को उसके (अष्ट) आठ (अंगजुत) अंगों सहित (धारो) धारण करना चाहिये।

भावार्थः—मोक्ष का स्वरूप जानकर उसे अपना परमहित मानना चाहिये। आठ कर्मों के सर्वथा नाश पूर्वक आत्माकी जो सम्पूर्ण शुद्ध दशा (पर्याय) प्रगट होती है उसे मोक्ष कहते हैं। यह दशा अविनाशी तथा अनन्त सुखमय है;—इसप्रकार सामान्य और विशेषरूप से सात तत्त्वों की अचल श्रद्धा करना उसे व्यवहार सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) कहते हैं। जिनेन्द्रदेव, वीतरागी (दिगम्बर जैन) गुरु, तथा जिनेन्द्रप्रणीत अहिंसामय धर्म भी उस व्यवहार सम्यग्दर्शन के कारण हैं अर्थात् इन तीनों का यथार्थ श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। उसे निःशंकित आठ अंगोंसहित धारण करना चाहिये। व्यवहारसम्यक्त्वी का स्वरूप पहले दूसरे तथा तीसरे छंद के भावार्थ में समझाया है। निश्चय-सम्यक्त्व के बिना मात्र व्यवहार को व्यवहारसम्यक्त्व नहीं कहा जाता ॥ १० ॥

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष तथा आठ गुण

वसु मद टारि निवारि त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो;
शंकादिक वसु दोष विना, संवेगादिक चित पागो।

अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपै कहिये;
विन जाने तैं दोष गुनन कौं, कैसे तजिये गहिये ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(वसु) आठ (मद) मदका (टारि) त्याग करके, (त्रिशठता) तीन प्रकार की मूढ़ता को (निवारी) हटाकर, (षट्) छह (*अनायतन) अनायतनों का (त्यागो) त्याग करना चाहिये। (शंकादिक) शंकादि (वसु) आठ (दोष विना) दोषों से रहित होकर (संवेगादिक) संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम में (चित्त) मन को (पागो) लगाना चाहिये। अब, सम्यक्त्व के (अष्ट) आठ (अंग) अंग (अरु) और (पचीसों दोष) पचीस दोषों को (संक्षेप) संक्षेप में (कहिये) कहा जाता है। क्योंकि (विन जाने तैं) उन्हें जाने विना (दोष) दोषों को (कैसे) किसप्रकार छोड़ें और (गुननको) गुणों को किसप्रकार (गहिये) ग्रहण करें ?

भावार्थ :—आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन (अधर्मस्थान) और आठ शंकादि दोष;—इसप्रकार सम्यक्त्व के पच्चीस दोष हैं। संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम सम्यग्दृष्टि को होते हैं। सम्यक्त्व के अभिलाषी जीव को सम्यक्त्वके इन पच्चीस दोषों का त्याग करके उन भावनाओं में मन लगाना चाहिये। अब, सम्यक्त्व के आठ गुणों (अंगों) और पच्चीस दोषों का संक्षेप में वर्णन किया जाता है; क्योंकि जाने और समझे विना दोषों को कैसे छोड़ा जा सकता है, तथा गुणों को कैसे ग्रहण किया जा सकता है? । ११ ।

---

* अन + आयतन = अनायतन = धर्म का स्थान न होना ।

सम्यग्दर्शन के
अठ अंग
अमूढ़ दृष्टि
निर्विचिकित्सा
निष्कांक्षित अंग
निशंकित अंग
उपगूहन
स्थितिकरण
वात्सल्य
प्रभावना
२५ दोष
अनुपगूहन
अस्थितीकरण
कुदेव
कुगुरु
षट अनायतन
खोटे देव और सेवक
खोटे धर्म और सेवक
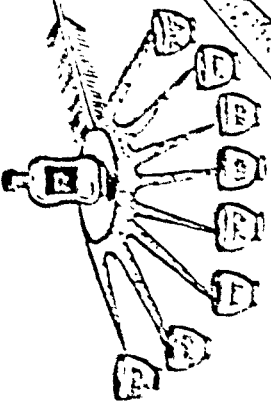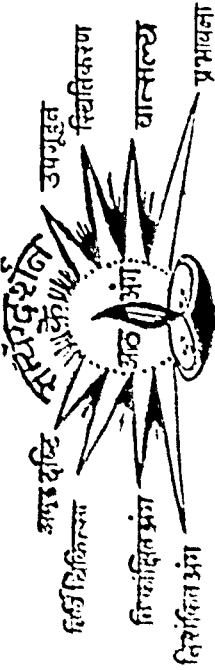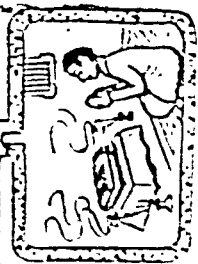
सम्यक्त्व के आठ अंग (गुण) और शंकादि आठ दोषों का लक्षण

जिन वचमें शंका न धार वृष, भव-सुख-वांछा भानैं;
मुनि-तन मलिन न देख घिनावैं, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानैं।
निज गुण अरु पर औगुण ढांके, वा निजधर्म बढ़ावैं;
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज परको सु दिढावैं ॥१२॥

छन्द १३ (पूर्वार्द्ध)

धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावैं;
इन गुण तैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावैं।

अन्वयार्थः—१-(जिनवच में) सर्वज्ञदेवके कहे हुए तत्त्वों में (शंका) संशय-सन्देह (न धार) धारण नहीं करना [सो निःशंकित अंग है]; २-(वृष) धर्म को (धार) धारण करके (भव-सुख-वांछा) सांसारिक सुखों की इच्छा (भानै) न करे

[सो निःकांक्षित अंग है]; ३–(मुनितन) मुनियों के शरीरादि (मलिन) मैले (देख) देखकर (न घिनावै) घृणा न करना [सो निर्विचिकित्सा अंग है]; ४–(तत्त्व-कुतत्त्व) सच्चे और झूठे तत्त्वों की (पिछानै) पहिचान रखे [सो अमूढ़दृष्टि अंग है]; ५–(निजगुण) अपने गुणों को (अरु) और (पर औगुण) दूसरे के अवगुणों को (ढांके) छिपाये (वा) तथा (निजधर्म) अपने आत्मधर्म को (बढ़ावै) बढ़ाये अर्थात् निर्मल बनाए [सो उपगूहन अंग है]; ६–(कामादिक कर) काम विकारादि के कारण (वृषतैं) धर्म से (चिगते) च्युत होते हुए (निज-परको) अपने को तथा परको (सु दिढावै) उसमें पुनः दृढ़ करे [सो स्थितिकरण अंग है]; ७-(धर्मी सों) अपने साधर्मी जनों से (गो-वच्छप्रीतिसम) बछड़े पर गाय की प्रीति समान (कर) प्रेम रखना [सो वात्सल्य अंग है]; और (जिनधर्म) जैनधर्म की (दिपावै) शोभा में वृद्धि करना [सो प्रभावना अंग है]। (इन गुणतैं) इन [आठ] गुणों से (विपरीत) उलटे (वसु) आठ (दोष) दोष हैं, (तिनको) उन्हें (सतत) हमेशा (खिपावै) दूर करना चाहिये।

भावार्थः—(१) तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार से नहीं है;—इसप्रकार यथार्थ तत्त्वों में अचल श्रद्धा होना सो निःशंकित अंग कहलाता है।

टिप्पणी—अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव भोगों को कभी भी आदरणीय नहीं मानते; किन्तु जिसप्रकार कोई बन्दी कारागृह में (इच्छा न होने पर भी) दुःख सहन करता है उसी प्रकार वे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से गृहस्थदशा में रहते हैं, किन्तु रुचि-

पूर्वक भोगों की इच्छा नहीं करते; इसलिये उन्हें निःशंकित और निःकांक्षित अंग होने में कोई बाधा नहीं आती।

(२) धर्म सेवन करके उसके बदले में सांसारिक सुखों की इच्छा न करना उसे निःकांक्षित अंग कहते हैं।

(३) मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर घृणा न करना उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं।

(४) सच्चे और झूठे तत्त्वों की परीक्षा करके मूढताओं तथा अनायतनों में न फँसना वह अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

(५) अपनी प्रशंसा करानेवाले गुणों को तथा दूसरे की निंदा कराने वाले दोषों को ढंकना और आत्मधर्म को बढ़ाना (निर्मल रखना) सो उपगूहन अङ्ग है।

टिप्पणीः—उपगूहन का दूसरा नाम "उपबृंहण" भी जिनागममें आता है; जिससे आत्मधर्म में वृद्धि करने को भी उपगूहन कहा जाता है। श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने अपने "पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" के २७ वें श्लोक में भी यही कहा हैः—

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः, सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोपनिगूहनमपि, विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥ २७ ॥

(६) काम, क्रोध लोभ आदि किसी भी कारण से (सम्यक्त्व और चारित्र से) भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा परको पुनः उसमें स्थिर करना सो स्थितिकरण अङ्ग है।

(७) अपने साधर्मी जन पर, बछड़े से प्यार रखनेवाली गाय की भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना वह वात्सल्य-अंग कहलाता है।

(८) अज्ञान अंधकार को दूर करके विद्या-बल-बुद्धि आदि के द्वारा शास्त्र में कही हुई योग्य रीति से अपने सामर्थ्यानुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रगट करना वह प्रभावना अङ्ग है।

—इन अंगों (गुणों) से विपरीत १—शंका, २—कांक्षा, ३-विचिकित्सा, ४-मूढ़दृष्टि, ५-अनुपगूहन, ६-अस्थितिकरण, ७-अवात्सल्य, और ८-अप्रभावना—यह सम्यक्त्व के आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिये। (१२-१३ पूर्वार्द्ध)।

छन्द १३ (उत्तरार्द्ध)

मद नामक आठ दोष

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय, न तो मद ठानै;
मद न रूपको मद न ज्ञानको, धन बलको मद भानै ॥१३॥

छन्द १४ (पूर्वार्द्ध)

तप कौ मद न मद जु प्रभुता कौ, करै न सो निज जानै;
मद धारै तो यही दोष वसु समकित कौ मल ठानै।
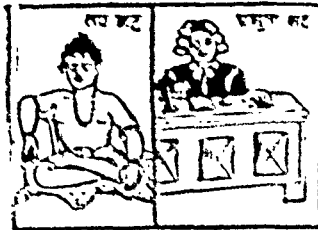
अन्वयार्थः—[जे जीव] (जो) यदि (पिता) पिता आदि पितृपक्ष के स्वजन (भूप) राजादि (होय) हों [तो] (मद)

अभिमान (न ठानै) नहीं करता, [यदि] (मातुल) मामा आदि मातृपक्ष के स्वजन (नृप) राजादि (होय) हों तो (मद) अभिमान (न) नहीं करता, (ज्ञानको) विद्या का (मद न) अभिमान नहीं करता; (धन को) लक्ष्मी का (मद भानै) अभिमान नहीं करता; (बलको) शक्तिका (मद भानै) अभिमान नहीं करता; (तप कौ) तपका (मद न) अभिमान नहीं करता; (जु) और (प्रभुता कौ) ऐश्वर्य, बड़प्पन का (मद न करै) अभिमान नहीं करता (सो) वह (निज) अपने आत्मा को (जानै) जानता है। [यदि जीव उनका] (मद) अभिमान (धारै) रखता है तो (यही) ऊपर कहे हुए मद (वसु) आठ (दोप) दोपरूप होकर (समकित को) सम्यक्त्व-सम्यक्दर्शन को (मल) दूषित (ठानै) करते हैं।

भावार्थ:—पिता के गोत्र को कुल और माता के गोत्र को जाति कहते हैं। (१) पिता आदि पितृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने से (मैं राजकुमार हूँ आदि) अभिमान करना सो कुल मद है। (२) मामा आदि मातृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान करना सो जातिमद है। (३) शारीरिक सौन्दर्य का मद करना सो रूपमद है। (४) अपनी विद्या (कला-कौशल अथवा शास्त्र ज्ञान) का अभिमान करना सो ज्ञान मद है। (५) अपनी धन-सम्पत्ति का अभिमान करना सो धन (ऋद्धि) का मद है। (६) अपनी शारीरिक शक्तिका गर्व करना सो बल का मद है। (७) अपने व्रत-उपवासादि तप का गर्व करना सो तपमद है। तथा (८) अपने बड़प्पन और आज्ञा का गर्व करना सो प्रभुता (पूजा) का मद है। कुल, जाति, रूप (शरीर), ज्ञान (विद्या), धन (ऋद्धि), बल, तप और प्रभुता (पूजा)—यह आठ मद दोप कहलाते हैं। जो जीव इन आठ का गर्व नहीं करता वही आत्मा की परीक्षा (शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति) कर सकता है। यदि उनका गर्व करता है तो यह मद सम्यग्दर्शन के आठ दोप बनकर उसे दूषित करते हैं। (१३ उत्तरार्द्ध तथा १४ पूर्वार्द्ध)।

छन्द १४ (उत्तरार्ध)

छह अनायतन तथा तीन मूढता दोष

कुगुरु–कुदेव–कुवृष–सेवक की, नहिं प्रशंस उचरै है;
जिनमुनि निजश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हैं न नमन करै है ॥१४॥

अन्वयार्थः—[सम्यग्दृष्टि जीव] (कुगुरु-कुदेव-कुवृष-सेवक की) कुगुरु, कुदेव और कुधर्म–सेवक की (प्रशंस) प्रशंसा (नहिं उचरै है) नहीं करता। (जिन) जिनेन्द्रदेव (मुनि) वीतराग मुनि [और] (जिनश्रुत) जिनवाणी (विन) के अतिरिक्त [जो] (कुगुरादिक) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म हैं (तिन्हैं) उन्हें (नमन) नमस्कार (न करै है) नहीं करता।

भावार्थः—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म; कुगुरु-सेवक, कुदेवसेवक तथा कुधर्मसेवक,—यह छह अनायतन (धर्म के अस्थान) दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजनादि तो दूर रही, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उनकी प्रशंसा भी नहीं करता; क्योंकि उनकी प्रशंसा करने से भी सम्यक्त्वमें दोष लगता है। सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि और जिनवाणी के अतिरिक्त कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रादि को (भय, आशा, लोभ और स्नेह आदि के कारण भी) नमस्कार नहीं करता, क्योंकि उन्हें नमस्कार करनेमात्रसे भी सम्यक्त्व दूषित हो जाता है। कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा—यह तीन भी सम्यक्त्व के मूढ़ता नामक दोष हैं। १४।

अव्रती सम्यग्दृष्टि की इन्द्र द्वारा पूजा और गृहस्थपने में अलिप्ति

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजै हैं;
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं।

गेही, पै गृहमें न रचैं, ज्यों, जलतैं भिन्न कमल है;
नगरनारि को प्यार यथा, कादे में हेम अमल है ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (सुधी) बुद्धिमान पुरुष [ऊपर कहे हुए] (दोप रहित) पचीस दोपरहित [तथा] (गुणसहित) निःशंकादि आठ गुणों सहित (सम्यग्दरश) सम्यग्दर्शन से (सजे हैं) भूपित हैं [उन्हें] (चरितमोहवश) अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्र मोहनीय कर्म का उदय वश (लेश) किंचित् भी (संजम) संयम (न) नहीं है (पै) तथापि (सुरनाथ) देवों के स्वामी इन्द्र [उनकी] (जजैं हैं) पूजा करते हैं; [यद्यपि वे] (गेही) गृहस्थ हैं (पै) तथापि (गृहमें) घरमें (न रचैं) नहीं राचते। (ज्यों) जिसप्रकार (कमल) कमल (जलतैं) जलसे (भिन्न) भिन्न [तथा] (यथा) जिसप्रकार (कादे में) कीचड़ में (हेम) सुवर्ण (अमल) शुद्ध [रहता है]; [उसीप्रकार उनका घरमें] (नगरनारिको) वेश्या के (प्यार यथा) प्रेम की भाँति (प्यार) प्रेम [होता है]।

भावार्थः—जो विवेकी पचीस दोपरहित तथा आठ अंग (आठ गुण) सहित सम्यग्दर्शन धारण करते हैं उन्हें, अप्रत्याख्यानावरणीय कपाय के तीव्र उदय में युक्त होने के कारण, यद्यपि संयमभाव लेशमात्र नहीं होता; तथापि इन्द्रादि उनकी

पूजा (आदर) करते हैं। जिसप्रकार पानी में रहने पर भी कमल पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घरमें रहने पर भी गृहस्थपने में लिप्त नहीं होता, उदासीन (निर्मोह) रहता है। जिसप्रकार *वेश्या का प्रेम मात्र पैसे में ही होता है; मनुष्य पर नहीं होता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम सम्यक्त्व में ही होता है, किन्तु गृहस्थपने में नहीं होता। तथा जिसप्रकार सोना कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल और पृथक् रहता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उसे ÷ त्याज्य (त्यागने योग्य) मानता है। ×

सम्यक्त्व की महिमा, सम्यग्दृष्टी के अनुत्पत्ति स्थान तथा सर्वोत्तम सुख और सर्वधर्म का मूल

प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी;
थावर विकलत्रय पशु में नहि, उपजत सम्यक् धारी।
तीनलोक तिहुँकाल माँहिं नहिं, दर्शन सो सुखकारी;
सकल धरम को मूल यही, इस विन करनी दुखकारी ॥१६॥

---

* यहाँ वेश्या के प्रेम से मात्र अलिप्तता की तुलना की गई है।

÷ निवासस्थः अपि सदा सर्वारम्भेषु वर्तमानः अपि।
मोहविलासः एषः इति सर्वं मन्यते हेयं ॥१२१॥ — (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

× रोगी को औषधिसेवन और बन्दी को कारागार भी इसके दृष्टान्त हैं।

अन्वयार्थः—(सम्यक्धारी) सम्यग्दृष्टि जीव (प्रथम नरक विन) पहले नरक के अतिरिक्त (षट् भू) शेष छह नरकों में, (ज्योतिष) ज्योतिषी देवों में, (वान) व्यंतर देवों में, (भवन) भवनवासी देवों में, (पंड) नपुंसकों में, (नारी) स्त्रियों में (थावर) पाँच स्थावरों में, (विकलत्रय) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में तथा (पशुमें) कर्मभूमि के पशुओं में (नहिं उपजत) उत्पन्न नहीं होते। (तीनलोक) तीनलोक (तिहुँकाल) तीनकाल में (दर्शन सो) सम्यग्दर्शन के समान (सुखकारी) सुखदायक (नहिं) अन्य कुछ नहीं है, (ये ही) यह सम्यग्दर्शन ही (सकल धरम को) समस्त धर्मोंका (मूल) मूल है; (इस विन) इस सम्यग्दर्शन के विना (करनी) समस्त क्रियाएँ (दुखकारी) दुःखदायक हैं।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि जीव आयु पूर्ण होने पर जब मृत्यु प्राप्त करते हैं तब दूसरे से सातवें नरक के नारकी, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, नपुंसक, सब प्रकारकी स्त्री, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कर्मभूमिके पशु नहीं होते; (नीच फल वाले, विकृत अङ्गवाले, अल्पायुवाले तथा दरिद्री नहीं होते।) विमानवासी देव, भोगभूमि के मनुष्य अथवा तिर्यञ्च ही होते हैं। कर्मभूमि के तिर्यञ्च भी नहीं होते। कदाचित् *नरकमें जायें तो

---

* ऐसी दशा में सम्यग्दृष्टि प्रथम नरक के नपुंसकों में भी उत्पन्न होता है; उनसे भिन्न अन्य नपुंसकों में उसकी उत्पत्ति होने का निषेध है।

टिप्पणीः—जो जीव सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व, आगामी पर्यायकी गति (आयु) का बन्ध करता है, वह जीव आयु पूर्ण होने पर नरक गति में भी उत्पन्न होता है; किन्तु वहाँ उसकी स्थिति (आयु) अल्प हो जाती है। जिस-प्रकार श्रेणिक राजा सातवें नरक की आयु का बन्ध करके फिर सम्यक्त्व को प्राप्त हुए थे, उससे यद्यपि उन्हें नरकमें तो जाना ही पड़ा किन्तु आयु सातवें नरक से घटकर पहले नरक की ही रही। इसप्रकार जो जीव सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेसे पूर्व तिर्यंच अथवा मनुष्य आयु का बन्ध करते हैं वे भोगभूमि में जाते हैं, किन्तु कर्मभूमि में तिर्यंच अथवा मनुष्यरूपमें उत्पन्न नहीं होते।

पहले नरक से नीचे नहीं जाते। तीनलोक और तीनकाल में सम्यग्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है। इसके अतिरिक्त जितने क्रियाकाण्ड हैं वे दुःखदायक हैं।

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चरित्र का मिथ्यापना—

मोक्षमहल की परथम सीढी, या विन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।
"दौल" समझ, सुन, चेत, सयाने, काल वृथा मत खोवै;
यह नर भव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै॥१७॥
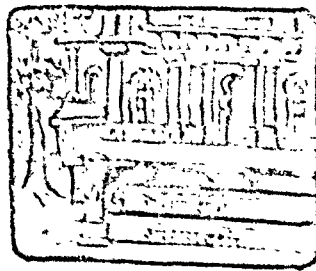
अन्वयार्थः—[यह सम्यग्दर्शन ही] (मोक्षमहल की) मोक्षरूपी महल की (परथम) प्रथम (सीढी) सीढ़ी है; (या विन) इस सम्यग्दर्शन के बिना (ज्ञान चरित्र) ज्ञान और चारित्र (सम्यक्ता) सचाई (न लहै) प्राप्त नहीं करते; इसलिये (भव्य) हे भव्य जीवो! (सो) ऐसे (पवित्रा) पवित्र (दर्शन) सम्यग्दर्शन को (धारो) धारण करो। (सयाने दौल) हे समझदार दौलतराम! (सुन) सुन, (समझ) समझ और (चेत) सावधान हो, (काल) समय को (वृथा) व्यर्थ (मत खोवै) न गँवा; [क्योंकि] (जो) यदि

(सम्यक्) सम्यग्दर्शन (नहि होवे) नहीं हुआ तो (यह) यह (नर भव) मनुष्य पर्याय (फिर) पुनः (मिलन) मिलना (कठिन है) दुर्लभ है।

भावार्थः—यह *सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके विना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जहाँतक सम्यग्दर्शन न हो तबतक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान और चारित्र वह मिथ्याचारित्र कहलाता है, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं कहलाते। इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिये। पण्डित दौलतराम जी अपने आत्मा को सम्बोध कर कहते हैं कि हे विवेकी आत्मा! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्वयं सुनकर अन्य अनुभवी ज्ञानियों से प्राप्त करने में सावधान हो; अपने अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा। इस जन्म में ही यदि सम्यक्त्व प्राप्त न किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते। १७।

तीसरी ढाल का सारांश

आत्मा का कल्याण सुख प्राप्त करने में है। आकुलता (चिन्ता, क्लेश) का मिट जाना वह सच्चा सुख है; मोक्ष ही सुखरूप है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना चाहिये।

निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र—इन तीनों की एकता सो मोक्षमार्ग है। उसका कथन दो प्रकार से है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो वास्तव में मोक्षमार्ग है, और व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु वास्तव में बंधमार्ग है; लेकिन निश्चय-मोक्षमार्ग में सहचर होने से उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है।

---

* सम्यग्दृष्टि जीव की, निश्चय कुगति न होय;
पूर्वबंध तें होय तो, सम्यक् दोष न कोय॥

आत्मा की परद्रव्यों से भिन्नता का यथार्थ श्रद्धान सो निश्चय-सम्यग्दर्शन है और परद्रव्यों से भिन्नता का यथार्थ ज्ञान सो निश्चयसम्यग्ज्ञान है। परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर आत्म-स्वरूप में लीन होना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। तथा सातों तत्त्वों का यथावत् भेदरूप अटल श्रद्धान करना सो व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहलाता है। यद्यपि सात तत्त्वों के भेदकी अटल श्रद्धा शुभराग होने से वह वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु निचली दशा में (चौथे, पांचवे और छट्टे गुणस्थानमें) निश्चय-सम्यक्त्व के साथ सहचर होने से वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहलाता है।

आठ मद; तीन मूढ़ता, छह अनायतन और शंकादि आठ-यह सम्यक्त्व के पच्चीस दोष हैं; तथा निःशंकितादि आठ सम्यक्त्व के अंग (गुण) हैं; उन्हें भलीभांति जानकर दोषों का त्याग तथा गुणों का ग्रहण करना चाहिये।

जो विवेकी जीव निश्चयसम्यक्त्व को धारण करता है उसे जबतक निर्बलता है तबतक, पुरुषार्थ की मन्दता के कारण यद्यपि किंचित् संयम नहीं होता, तथापि वह इन्द्रादि के द्वारा पूजा जाता है। तीन लोक और तीन काल में निश्चयसम्यक्त्व के समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। सर्वधर्मों का मूल, सार तथा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी यह सम्यक्त्व ही है; उसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते किन्तु मिथ्या कहलाते हैं।

आयुष्य का बन्ध होने से पूर्व सम्यक्त्व धारण करनेवाला जीव मृत्यु के पश्चात् दूसरे भव में नारकी, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, पशु, हीनांग, नीच गोत्रवाला, अल्पायु तथा दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंच सम्यग्दृष्टि मरकर वैमानिक देव होता है; देव और नारकी सम्यग्दृष्टि मरकर कर्मभूमि में उत्तम क्षेत्र में मनुष्य ही होता है।

(सम्यक्) सम्यग्दर्शन (नहि होवे) नहीं हुआ तो (यह) यह (नर भव) मनुष्य पर्याय (फिर) पुनः (मिलन) मिलना (कठिन है) दुर्लभ है।

भावार्थः—यह *सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जहाँतक सम्यग्दर्शन न हो तबतक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान और चारित्र वह मिथ्याचारित्र कहलाता है, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं कहलाते। इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिये। पण्डित दौलतराम जी अपने आत्मा को सम्बोध कर कहते हैं कि हे विवेकी आत्मा! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्वयं सुनकर अन्य अनुभवी ज्ञानियों से प्राप्त करने में सावधान हो; अपने अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा। इस जन्म में ही यदि सम्यक्त्व प्राप्त न किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते। १७।

तीसरी ढाल का सारांश

आत्मा का कल्याण सुख प्राप्त करने में है। आकुलता (चिन्ता, क्लेश) का मिट जाना वह सच्चा सुख है; मोक्ष ही सुखरूप है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना चाहिये।

निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र—इन तीनों की एकता सो मोक्षमार्ग है। उसका कथन दो प्रकार से है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो वास्तव में मोक्षमार्ग है, और व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु वास्तव में बंधमार्ग है; लेकिन निश्चय-मोक्षमार्ग में सहचर होने से उसे व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है।

---

* सम्यग्दृष्टि जीव की, निश्चय कुगति न होय;
पूर्वबंध तें होय तो, सम्यक् दोष न कोय॥

आत्मा की परद्रव्यों से भिन्नता का यथार्थ श्रद्धान सो निश्चय-सम्यग्दर्शन है और परद्रव्यों से भिन्नता का यथार्थ ज्ञान सो निश्चयसम्यग्ज्ञान है। परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर आत्म-स्वरूप में लीन होना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। तथा सातों तत्त्वों का यथावत् भेदरूप अटल श्रद्धान करना सो व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहलाता है। यद्यपि सात तत्त्वों के भेदकी अटल श्रद्धा शुभराग होने से वह वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु निचली दशा में (चौथे, पांचवे और छट्ठे गुणस्थानमें) निश्चय-सम्यक्त्व के साथ सहचर होने से वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहलाता है।

आठ मद; तीन मूढ़ता, छह अनायतन और शंकादि आठ–यह सम्यक्त्व के पच्चीस दोष हैं; तथा निःशंकितादि आठ सम्यक्त्व के अंग (गुण) हैं; उन्हें भलीभांति जानकर दोषों का त्याग तथा गुणों का ग्रहण करना चाहिये।

जो विवेकी जीव निश्चयसम्यक्त्व को धारण करता है उसे जबतक निर्बलता है तबतक, पुरुषार्थ की मन्दता के कारण यद्यपि किंचित् संयम नहीं होता, तथापि वह इन्द्रादि के द्वारा पूजा जाता है। तीन लोक और तीन काल में निश्चयसम्यक्त्व के समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। सर्वधर्मों का मूल, सार तथा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढी यह सम्यक्त्व ही है; उसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते किन्तु मिथ्या कहलाते हैं।

आयुष्य का बन्ध होने से पूर्व सम्यक्त्व धारण करनेवाला जीव मृत्यु के पश्चात् दूसरे भव में नारकी, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, पशु, हीनांग, नीच गोत्रवाला, अल्पायु तथा दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंच सम्यग्दृष्टि मरकर वैमानिक देव होता है; देव और नारकी सम्यग्दृष्टि मरकर कर्मभूमि में उत्तम क्षेत्र में मनुष्य ही होता है।

यदि सम्यग्दर्शन होने से पूर्व—१ देव, २ मनुष्य, ३ तिर्यंच या ४ नरकायु का बन्ध हो गया हो तो, वह मरकर १ वैमानिक देव, २ भोगभूमि का मनुष्य, ३ भोगभूमिका तिर्यञ्च अथवा ४ प्रथम नरक का नारकी होता है। इससे अधिक नीचे के स्थान में जन्म नहीं होता।—इसप्रकार निश्चयसम्यग्दर्शन की अपार महिमा है।

इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को सत्‌शास्त्रों का स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सत्समागम तथा यथार्थ तत्त्वविचार द्वारा निश्चय-सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि यदि इस मनुष्यभव में निश्चयसम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया तो पुनः मनुष्यपर्याय प्राप्ति आदि का सुयोग मिलना कठिण है।

तीसरी ढाल का भेदसंग्रह

अचेतन द्रव्यः—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।
चेतन एक, अचेतन पाँचों, रहे सदा गुण पर्ययवान;
केवल पुद्गल रूपवान है, पाँचों शेष अरूपी जान।

अन्तरंगपरिग्रहः—१ मिथ्यात्व। ४ कषाय; ९ नोकषाय,

आस्रवः—५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय, १५ योग।

कारणः—उपादान और निमित्त।

द्रव्यकर्मः—ज्ञानावरणादि आठ।

नोकर्मः—औदारिक, वैक्रियिक और आहारकादि शरीर।

परिग्रहः—अन्तरंग और बहिरंग।

प्रमादः—४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय, १ निद्रा, १ प्रणय (स्नेह)।

बहिरंग परिग्रहः—क्षेत्र, मकान, सोना, चाँदी, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बरतन—यह दस हैं।

भावकर्मः—मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोधादि ।

मदः—आठ प्रकार के हैंः—

जाति लाभ कुल रूप तप, बल विद्या अधिकार;
इनको गर्व न कीजिये, ये मद अष्ट प्रकार ।

मिथ्यात्वः—विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान ।

रसः—खट्टा, मीठा, कड़वा, चरपरा और कषायला ।

रूपः—(रंग)—काला, पीला, हरा, लाल और सफेद—यह पाँच रूप हैं ।

स्पर्शः—हलका, भारी, रूखा, चिकना, कड़ा, कोमल, ठण्डा और गर्म—यह आठ स्पर्श हैं ।

तीसरी ढाल का लक्षण संग्रह

अनायतनः—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनों के सेवक ये छहों अधर्म के स्थानक ।

अनायतनदोषः—सम्यक्त्व का नाश करनेवाले कुदेवादि की प्रशंसा करना ।

अनुकम्पाः—प्राणी मात्र पर दया का भाव ।

अरिहन्तः—चार घातिकर्मों से रहित, अनन्तचतुष्टयसहित वीतराग और केवलज्ञानी परमात्मा ।

अलोकः—जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं हैं वह स्थान ।

अविरतिः—पापों में प्रवृत्ति, अर्थात्—१—निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रत परिणाम; २—छह काय (—पांचों स्थावर

निश्चयनय वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाता है। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यका अथवा उनके भावों का अथवा कारण कार्यादिकका किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है इसलिये उसका त्याग करना चाहिये।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७)

) निकल (-शरीर रहित) परमात्मा आठों कर्मों से रहित है और सकल (शरीर सहित) परमात्मा को चार अघातिकर्म होते हैं।

) सामान्य धर्म अथवा गुण तो अनेक वस्तुओं में रहता है, किन्तु विशेष धर्म या विशेष गुण तो अमुक खास वस्तु में ही होता है।

) सम्यग्दर्शन अंगी है और निःशङ्कित अंग उसका एक अंग है।

तीसरी ढाल की प्रश्नावली

) अजीव, अधर्म, अनायतन, अलोक, अंतरात्मा, अरिहन्त, आकाश, आत्मा, आस्रव, आठ अंग, आठ मद, उत्तम अंतरात्मा, उपयोग, कषाय, काल, कुल, गंध, चारित्रमोह, जघन्य अंतरात्मा, जाति, जीव, मद, देवमूढ़ता, द्रव्यकर्म, निकल, निश्चयकाल, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मोक्षमार्ग, निर्जरा, नोकर्म, परमात्मा, पाखंडी मूढ़ता, पुद्गल, बहिरात्मा, बन्ध, मध्यम अन्तरात्मा, मूढ़ता, मोक्ष, रस, रूप, लोकमूढ़ता, विशेष, विकलत्रय, व्यवहारकाल, सम्यग्दर्शन, शम, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, सुख, सकल परमात्मा, संवर, संवेग, सामान्य, सिद्ध तथा स्पर्श आदि के लक्षण बतलाओ।

२) अनायतन और मूढ़ता में, जाति और कुल में, धर्म और धर्म द्रव्य में, निश्चय और व्यवहार में, सकल और निकल

देशव्रती:—श्रावक के व्रतों को धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि; पाँचवें गुणस्थान में वर्तनेवाले जीव।

निमित्तकारण:—जो स्वयं कार्यरूप न हो, किन्तु कार्य की उत्पत्ति के समय उपस्थित रहे वह कारण।

नोकर्म:—औदारिकादि पांच शरीर तथा छह पर्याप्तिओं के योग्य पुद्गलपरमाणु नोकर्म कहलाते हैं।

पाखंडी मूढ़ता:—रागी-द्वेषी और वस्त्रादि परिग्रहधारी, झूठे तथा कुलिंगी साधुओं की सेवा करना अथवा वंदन-नमस्कार करना।

पुद्गल:—जो पुरे और गले। परमाणु बंधस्वभावी होने से मिलते हैं तथा पृथक् होते हैं इसलिये वे पुद्गल कहलावे हैं। अथवा जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श हो वह पुद्गल।

प्रमाद:—स्वरूप में असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति अथवा धार्मिक कार्यों में अनुत्साह।

प्रशम:—अनन्तानुबन्धी कषाय के अन्तपूर्वक शेष कषायों का अंशतः मन्द होना सो। (पंचाध्यायी भा. २ गाथा ४२८)

मद:—अहङ्कार, घमण्ड, अभिमान।

भावकर्म:—मिथ्यात्व, रागद्वेषादि जीव के मलिन भाव।

मिथ्यादृष्टि:—तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा करनेवाले।

लोकमूढ़ता:—धर्म समझकर जलाशयों में स्नान करना तथा रेत, पत्थर आदि का ढेर वनाना—आदि कार्य।

विशेषधर्म:—जो धर्म अमुक विशिष्ट द्रव्य में रहे [illegible]ष धर्म कहते हैं।

तथा–एक त्रसकाय) जीवों की हिंसा के त्यागरूप भाव न होना तथा पांच इन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति करना ऐसे बारह प्रकार अविरति है।

अविरति सम्यग्दृष्टि:—सम्यग्दर्शन सहित, किन्तु व्रतरहित ऐसे चौथे गुणस्थानवर्ती जीव।

आस्तिक्य:—जीवादि छह द्रव्य, पुण्य और पाप संवर–निर्जरा–मोक्ष तथा परमात्मा के प्रति विश्वास सो आस्तिक्य कहलाता है।

कषाय:—जो आत्मा को दुःख दे, गुण के विकास को रोके तथा परतंत्र करे वह। याने मिथ्यात्व तथा क्रोध, मान, माया और लोभ वह कषायभाव है।

गुणस्थान:—मोह और योग के सद्भाव या अभाव से आत्मा के गुण (सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र) की हीनाधिकतानुसार होनेवाली अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। (वरांग-चरित्र पृ० ३६२)

घातिया:—अनंत चतुष्टय को रोकने में निमित्तरूप कर्म को घातिया कहते हैं।

चारित्रमोह:—आत्मा के चारित्र को रोकने में निमित्तसो मोहनीयकर्म।

जिनेन्द्र:—चार घातिया कर्मों को जीतकर केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय प्रगट करनेवाले १८ दोष रहित परमात्मा।

देवमूढ़ता:—भय, आशा, स्नेह, लोभवश रागी–द्वेषी देवों की सेवा करना अथवा वंदन–नमस्कार करना।

देशव्रती:—श्रावक के व्रतों को धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि; पाँचवें गुणस्थान में वर्तनेवाले जीव।

निमित्तकारण:—जो स्वयं कार्यरूप न हो, किन्तु कार्य की उत्पत्ति के समय उपस्थित रहे वह कारण।

नोकर्म:—औदारिकादि पांच शरीर तथा छह पर्याप्तिओं के योग्य पुद्गलपरमाणु नोकर्म कहलाते हैं।

पाखंडी मूढ़ता:—रागी-द्वेषी और वस्त्रादि परिग्रहधारी, झूठे तथा कुलिंगी साधुओं की सेवा करना अथवा वंदन-नमस्कार करना।

पुद्गल:—जो पुरे और गले। परमाणु बंधस्वभावी होने से मिलते हैं तथा पृथक् होते हैं इसलिये वे पुद्गल कहलाते हैं। अथवा जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श हो वह पुद्गल।

प्रमाद:—स्वरूप में असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति अथवा धार्मिक कार्यों में अनुत्साह।

प्रशम:—अनन्तानुवन्धी कषाय के अन्तपूर्वक शेष कषायों का अंशतः मन्द होना सो। (पंचाध्यायी भा. २ गाथा ४२८)

मद:—अहङ्कार, घमण्ड, अभिमान।

भावकर्म:—मिथ्यात्व, रागद्वेषादि जीव के मलिन भाव।

मिथ्यादृष्टि:—तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा करनेवाले।

लोकमूढ़ता:—धर्म समझकर जलाशयों में स्नान करना तथा रेत, पत्थर आदि का ढेर बनाना—आदि कार्य।

विशेषधर्म:—जो धर्म अमुक विशिष्ट द्रव्य में रहे उसे विशेष धर्म कहते हैं।

शुद्धोपयोगः—शुभ और अशुभ रागद्वेष की परिणति से रहित सम्यग्दर्शन–ज्ञान सहित चारित्र की स्थिरता।

सामान्यगुणः—सर्व द्रव्यों में समानता से विद्यमान गुण को सामान्य कहते हैं।

सामान्यः—प्रत्येक वस्तु में त्रैकालिक द्रव्य–गुणरूप, अभेद एकरूप भाव को सामान्य कहते हैं।

सिद्धः—आठ गुणों सहित तथा आठ कर्मों एवं शरीररहित परमेष्ठी। [व्यवहारसे मुख्य आठ गुण और निश्चयसे अनन्तगुण प्रत्येक सिद्ध परमात्मा में है।]

संवेगः—संसार से भय होना और धर्म तथा धर्म के फल में परम उत्साह होना। साधर्मी और पंचपरमेष्ठी में प्रीति को भी संवेग कहते हैं।

निर्वेदः—संसार, शरीर और भोगों में सम्यक् प्रकार से उदासीनता अर्थात् वैराग्य।

अन्तर प्रदर्शन

(१) जीव के मोह राग–द्वेषरूप परिणाम वह भावआस्रव है और उस परिणाम में स्निग्धता वह भावबन्ध है।

(२) अनायतन में तो कुदेवादि की प्रशंसा की जाती है, किन्तु मूढता में तो उनकी सेवा, पूजा और विनय करते हैं।

(३) माता के वंश को जाति और पिता के वंश को कुल कहा जाता है।

(४) धर्म द्रव्य तो छह द्रव्यों में से एक द्रव्य है, और धर्म वह वस्तु का स्वभाव अथवा गुण है।

(५) निश्चयनय वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाता है। व्यवहारनय स्वद्रव्य–परद्रव्यका अथवा उनके भावों का अथवा कारण कार्यादिकका किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है इसलिये उसका त्याग करना चाहिये।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७)

(६) निकल (–शरीर रहित) परमात्मा आठों कर्मों से रहित है और सकल (शरीर सहित) परमात्मा को चार अघातिकर्म होते हैं।

(७) सामान्य धर्म अथवा गुण तो अनेक वस्तुओं में रहता है, किन्तु विशेष धर्म या विशेष गुण तो अमुक खास वस्तु में ही होता है।

(८) सम्यग्दर्शन अंगी है और निःशङ्कित अंग उसका एक अंग है।

तीसरी ढाल की प्रश्नावली

(१) अजीव, अधर्म, अनायतन, अलोक, अंतरात्मा, अरिहन्त, आकाश, आत्मा, आस्रव, आठ अंग, आठ मद, उत्तम अंतरात्मा, उपयोग, कषाय, काल, कुल, गंध, चारित्रमोह, जघन्य अंतरात्मा, जाति, जीव, मद, देवमूढ़ता, द्रव्यकर्म, निकल, निश्चयकाल, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मोक्षमार्ग, निर्जरा, नोकर्म, परमात्मा, पाखंडी मूढ़ता, पुद्गल, बहिरात्मा, बन्ध, मध्यम अन्तरात्मा, मूढ़ता, मोक्ष, रस, रूप, लोकमूढ़ता, विशेष, विकलत्रय, व्यवहारकाल, सम्यग्दर्शन, शम, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, सुख, सकल परमात्मा, संवर, संवेग, सामान्य, सिद्ध तथा स्पर्श आदि के लक्षण बतलाओ।

(२) अनायतन और मूढ़ता में, जाति और कुल में, धर्म और धर्म द्रव्य में, निश्चय और व्यवहार में, सकल और निकल

में, सम्यग्दर्शन और निःशंकित अंग में तथा सामान्य और विशेष आदि में क्या अन्तर है ?

(३) अणुव्रती का आत्मा, आत्महित, चेतन द्रव्य, निराकुल दशा अथवा स्थान, सात तत्त्व, उनका सार, धर्मका मूल, सर्वोत्तम धर्म, सम्यग्दृष्टि को नमस्कार के अयोग्य तथा हेय-उपादेय तत्त्वों के नाम बतलाओ।

(४) अघातिया, अंग, अजीव, अनायतन, अन्तरात्मा, अन्तरंग परिग्रह, अमूर्तिक द्रव्य, आकाश, आत्मा, आस्रव, कर्म, कषाय, कारण, काल, कालद्रव्य, गंध, घातिया, जीव, तत्त्व, द्रव्य, दुःखदायक भाव, द्रव्यकर्म, नोकर्म, परमात्मा, परिग्रह, पुद्गल के गुण, भावकर्म, प्रमाद, बहिरंग-परिग्रह, मद, मिथ्यात्व, मूढ़ता, मोक्षमार्ग, योग, रूपी द्रव्य, रस, वर्ण, सम्यक्त्व के दोष और सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र के भेद बतलाओ।

(५) तत्त्वज्ञान होने पर भी असंयम; अव्रतीकी पूज्यता; आत्माके दुःख; सम्यग्दर्शन; सम्यग्ज्ञान; सम्यक्—चारित्र तथा सम्यग्दृष्टि का कुदेवादि को नमस्कार न करना-आदि के कारण बतलाओ।

(६) अमूर्तिक द्रव्य, परमात्मा के ध्यान से लाभ, मुनि का आत्मा, मूर्तिक द्रव्य, मोक्षका स्थान और उपाय, बहिरात्मपने के त्याग का कारण, सच्चे सुख का उपाय और सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति न होनेवाले स्थान-इनका स्पष्टीकरण करो।

(७) अमुक पद, चरण अथवा छंदका अर्थ तथा भावार्थ बतलाओ; तीसरी ढालका सारांश सुनाओ। आत्मा, मोक्षमार्ग जीव, छह द्रव्य, सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्व के दोष पर लेख लिखो।

❀ चौथी ढाल ❀

सम्यग्ज्ञान का लक्षण और उसका समय

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,
स्व-परअर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटवन भान ॥ १ ॥
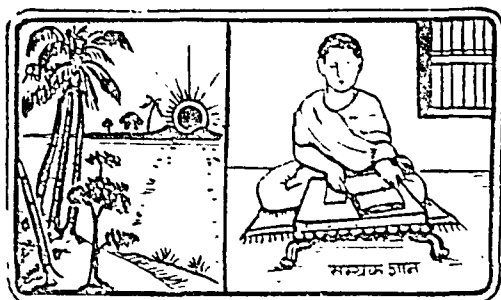
अन्वयार्थः—(सम्यक् श्रद्धा) सम्यग्दर्शन (धारि) धारणा करके (पुनि) फिर (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान का (सेवहु) सेवन करो; [जो सम्यग्ज्ञान] (बहु धर्मजुत) अनेक धर्मात्मक (स्वपरअर्थ) अपना और दूसरे पदार्थों का (प्रगटावन) ज्ञान कराने में (भान) सूर्य के समान है।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञानको दृढ़ करना चाहिये। जिसप्रकार सूर्य समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् दर्शाता है, उसीप्रकार अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपने को (आत्मा को) तथा परपदार्थों को[1] ज्यों का त्यों बतलाता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

---

१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। (प्रमेयरत्नमाला, प्र० उ० सूत्र-१)

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अन्तर

(रोला छन्द)

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ;
लक्षण श्रद्धा जान, दुहू में भेद अबाधौ।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई;
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(सम्यक् साथै) सम्यग्दर्शन के साथ (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (होय) होता है (पै) तथापि [उन दोनों को] (भिन्न) भिन्न (अराधौ) समझना चाहिये; क्योंकि (लक्षण) उन दोनों के लक्षण [क्रमशः] (श्रद्धा) श्रद्धा करना और (जान) जानना है तथा (सम्यक्) सम्यग्दर्शन (कारण) कारण है और (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (कारज) कार्य है। (सोई) यह भी (दुहूमें) दोनों में (भेद) अन्तर (अबाधौ) निर्बाध है। [जिसप्रकार] (युगपत्) एक साथ (होते हू) होने पर भी (प्रकाश) उजाला (दीपकतैं) दीपककी ज्योति से (होई) होता है उसीप्रकार।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एकसाथ प्रगट होते हैं तथापि वे दोनों भिन्न-भिन्न गुणों की पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है और सम्यग्ज्ञान ज्ञानगणकी शुद्ध पर्याय है। पुनश्च, सम्यग्दर्शन का लक्षण विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण संशय* आदि दोप रहित स्व-परका यथार्थतया निर्णय है—इसप्रकार दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

तथा सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है और सम्यग्ज्ञान नैमित्तिक कार्य है।—इसप्रकार उन दोनों में कारण-कार्यभाव से भी अन्तर है।

प्रश्नः—ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् (एक साथ) होते हैं, तो उनमें कारण-कार्यपना क्यों कहते हो?

उत्तरः—"वह हो तो वह होता है"—इस अपेक्षा से कारण-कार्यपना कहा है। जिसप्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं, तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है इसलिये दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। उसीप्रकार ज्ञान-श्रद्धान भी हैं। (मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली) पृष्ठ १२६)।

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।—ऐसा होने से सम्यग्दर्शन वह सम्यग्ज्ञान का कारण है।†

---

* संशय, विमोह, (विभ्रम-विपर्यय) अनिर्धार।

† पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो, नानात्वं संभवत्यनयोः॥ ३२॥
सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं, सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥ ३३॥
कारणकार्यविधानं, समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव, सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥ ३४॥
—(श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

सम्यग्ज्ञान के भेद, परोक्ष और देशप्रत्यक्ष के लक्षण

तास भेद दो हैं, परोक्ष परतछि तिन माहीं;
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतैं उपजाहीं।
अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छा;
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जानै जिय स्वच्छा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(तास) उस सम्यग्ज्ञानके (परोक्ष) परोक्ष और (परतछि) प्रत्यक्ष (दो) दो (भेद हैं) भेद हैं; (तिन माहीं) उनमें (मतिश्रुत) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (दोय) यह दोनों (परोक्ष) परोक्षज्ञान हैं। [क्योंकि वे] (अक्ष मनतैं) इन्द्रियों तथा मनके निमित्त से (उपजाहीं) उत्पन्न होते हैं। (अवधिज्ञान) अवधिज्ञान और (मनपर्जय) मनःपर्ययज्ञान (दो) यह दोनों ज्ञान (देशप्रतच्छा) देशप्रत्यक्ष (हैं) हैं। [क्योंकि उन ज्ञानो से] (जिय) जीव (द्रव्य क्षेत्र परिमाण) द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा (लिये) लेकर (स्वच्छा) स्पष्ट (जानै) जानता है।

भावार्थः—इस सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष; उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [1]परोक्षज्ञान हैं, क्योंकि वे दोनों ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके निमित्त से वस्तु को अस्पष्ट जानते हैं। सम्यक्मति-श्रुतज्ञान स्वानुभवकाल में प्रत्यक्ष होते हैं उनमें इन्द्रिय और मन निमित्त नहीं हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान [2]देशप्रत्यक्ष हैं, क्योंकि जीव इन दो ज्ञानों से रूपी द्रव्य को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा पूर्वक स्पष्ट जानता है।

---

१. जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके निमित्त से वस्तुको अस्पष्ट जानता है उसे परोक्षज्ञान कहते हैं।

२. जो ज्ञान रूपी वस्तुको द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावको मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है उसे देशप्रत्यक्ष कहते हैं।

सम्यक्ज्ञान के भेद उपभेद
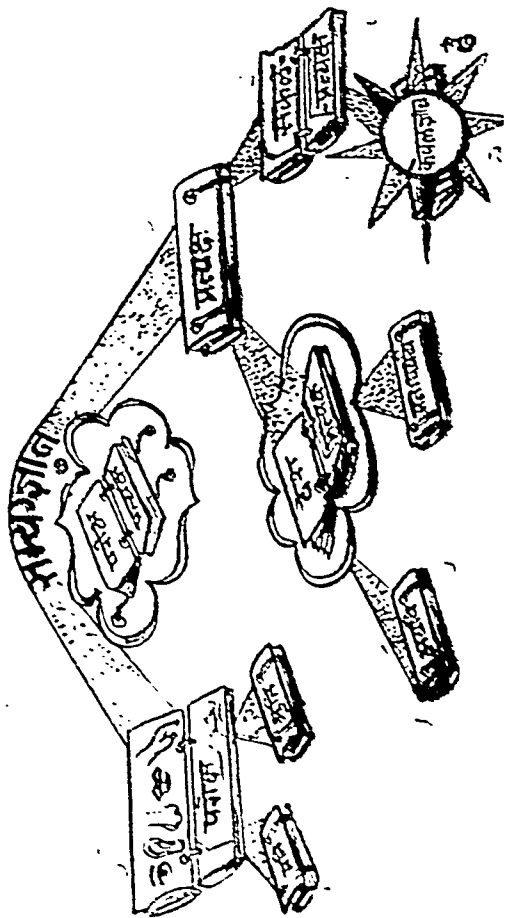
सकल-प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण और ज्ञान की महिमा

सकल द्रव्य के गुन अनंत, परजाय अनंता;
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।
ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन,
इहि परमामृत जन्मजरामृति-रोग-निवारन ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—[जिस ज्ञान से] (केवलि भगवन्ता) केवलज्ञानी भगवान (सकल द्रव्य के) छहों द्रव्यों के (अनन्त) अपरिमित (गुन) गुणों को और (अनन्ता) अनन्त (परजाय) पर्यायों को (एकै काल) एक साथ (प्रगट) स्पष्ट (जानै) जानते हैं [उस ज्ञान को] (सकल) सकलप्रत्यक्ष अथवा केवलज्ञान कहते हैं। (जगत में) इस जगत में (ज्ञान समान) सम्यग्ज्ञान जैसा (आन) दूसरा कोई पदार्थ (सुखको) सुखका (न कारण) कारण नहीं है। (इहि) यह सम्यग्ज्ञान ही (जन्म-जरा-मृति रोग) जन्म-जरा (-वृद्धावस्था) और मृत्यु रूपी रोगों को दूर करने के लिये (परमामृत) उत्कृष्ट अमृत समान है।

भावार्थः—(१) जो ज्ञान तीनकाल और तीन लोकवर्ती सर्व पदार्थों को (अनन्तधर्मात्मक सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को) प्रत्येक समय में यथास्थित, परिपूर्णरूप से स्पष्ट और एक साथ जानता है उस ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। जो सकलप्रत्यक्ष है।

(२) द्रव्य, गुण और पर्यायों को केवली भगवान जानते हैं, किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते—ऐसा मानना असत्य है। तथा वे अनन्त को अथवा मात्र अपने आत्मा को ही जानते हैं, किन्तु सर्वको नहीं जानते—ऐसा मानना भी न्यायविरुद्ध है। केवली भगवान सर्वज्ञ होने से अनेकान्तस्वरूप प्रत्येक वस्तुको प्रत्यक्ष जानते हैं। (–लघु जैन सिद्धान्तप्रवेशिका प्रश्न-८७)।

(३) इस संसार में सम्यग्ज्ञानके समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म जरा और मृत्युरूपी तीन रोगों का नाश करने के लिये उत्तम अमृत समान है।

ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में अन्तर

कोटिजन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे;
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।
मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान विना, सुख लेश न पायौ ॥ ५ ॥
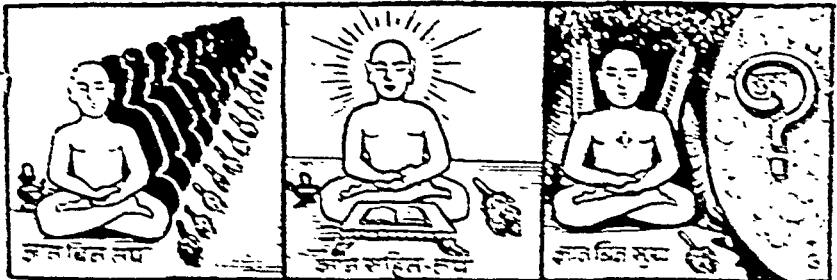
अन्वयार्थः—[अज्ञानी जीव को] (ज्ञान बिन) सम्यग्ज्ञानके बिना (कोटि जन्म) करोड़ों जन्मों तक (तप तपैं) तप करने से (जे कर्म) जितने कर्म (झरैं) नाश होते हैं (ते) उतने कर्म (ज्ञानी के) सम्यग्ज्ञानी जीव के (त्रिगुप्ती तैं) मन, वचन और काया के ओर की प्रवृत्ति को रोकने से [निर्विकल्प शुद्ध स्वानुभव से] (छिन माहिं) क्षणमात्र में (सहज) सरलता से (टरैं) नष्ट हो जाते हैं। [यह जीव] (मुनिव्रत) मुनियों के महाव्रतों को (धार) धारण करके (अनन्तवार) अनन्तवार (ग्रीवक) नववें ग्रैवेयक तक (उपजायो) उत्पन्न हुआ, (पै) परन्तु (निज आतम) अपने आत्माके (ज्ञान विना) ज्ञान विना (लेश) किंचित् मात्र (सुख) सुख (न पायो) प्राप्त न कर सका।

भावार्थः—मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के विना करोड़ों जन्मों-भवों तक बालतपरूप उद्यम करके जितने कर्मों का नाश करता है उतने कर्मों का नाश सम्यग्ज्ञानी जीव-स्वोन्मुख ज्ञातापने के कारण स्वरूपगुप्ति से—क्षणमात्र में सहज ही नाश कर डालता है। यह जीव, मुनि के (द्रव्यलिंगी मुनि के) महाव्रतों को धारण करके उनके प्रभाव से नववें ग्रैवेयक तक के विमानों में अनन्तवार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मा के भेदविज्ञान (सम्यग्ज्ञान अथवा स्वानुभव) के विना उस जीव को वहाँ भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं हुआ।

ज्ञान के दोष और मनुष्य पर्याय आदि की दुर्लभता

तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।
यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;
इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥ ६ ॥
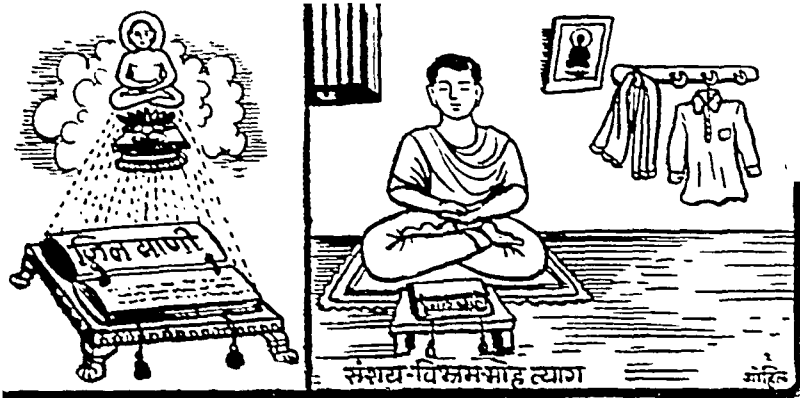
अन्वयार्थः—(तातैं) इसलिये (जिनवर-कथित) जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए (तत्त्व) परमार्थ तत्त्व का (अभ्यास) अभ्यास (करीजे) करना चाहिये और (संशय) संशय (विभ्रम) विपर्यय तथा (मोह) अनध्यवसाय [अनिश्चितता] को (त्याग) छोड़कर (आपो) अपने आत्माको (लख लीजे) लक्ष में लेना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये। [यदि ऐसा नहीं किया तो] (यह) यह (मानुष

पर्याय) मनुष्य भव (सुकुल) उत्तम कुल और (जिनवाणी) जिनवाणी का (सुनिवौ) सुनना (इहविध) ऐसा सुयोग (गये) वीत जाने पर, (उदधि) समुद्र में (समानी) समाये–डूवे हुए (सुमणि ज्यों) सच्चे रत्न की भाँति [पुनः] (न मिलै) मिलना कठिन है।

भावार्थः—आत्मा और परवस्तुओं के भेदविज्ञान को प्राप्त करने के लिये जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वों का पठन-पाठन (मनन) करना चाहिये; और संशय[1] विपर्यय[2] तथा अनध्यवसाय[3] इन सम्यग्ज्ञान के तीन दोषों को दूर करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिये। क्योंकि जिसप्रकार समुद्र में डूवा हुआ अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता उसीप्रकार मनुष्यशरीर, उत्तम श्रावक-कुल और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग भी वीत जाने के वाद पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते। इसलिये यह अपूर्व अवसर न गँवाकर आत्मस्वरूप की पहिचान (सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति) करके यह मनुष्य जन्म सफल करना चाहिये।

---

१. **संशयः**—विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः=“इसप्रकार है अथवा इस-प्रकार ?”—ऐसा जो परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान, उसे संशय कहते हैं।

२. **विपर्ययः**—विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः=वस्तुस्वरूप से विरुद्धता पूर्वक “यह ऐसा ही है”—इसप्रकार एकरूप ज्ञान का नाम विपर्यय है। उसके तीन भेद हैं—कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय तथा भेदाभेदविपर्यय (मोक्षमार्ग प्र० पृ० १२३)

३. **अनध्यवसायः**—किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः=“कुछ है”—ऐसा निर्णय रहित विचार सो अनध्यवसाय है।

सम्यग्ज्ञान की महिमा और कारण

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै,
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।
तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(धन) पैसा, (समाज) परिवार, (गज) हाथी, (बाज) घोड़ा, (राज) राज्य (तो) तो (काज) अपने काम में (न आवै) नहीं आते; किन्तु (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (आपको रूप) आत्मा का स्वरूप—जो (भये) प्राप्त होने के (फिर) पश्चात् (अचल) अचल (रहावै) रहता है। (तास) उस (ज्ञान को) सम्यग्ज्ञान का (कारन) कारण (स्व-पर विवेक) आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान (बखानौ) कहा है, [इसलिये] (भव्य) हे भव्य जीवो! (कोटि) करोड़ों (उपाय) उपाय (बनाय) करके (ताको) उस भेदविज्ञान को (उर आनौ) हृदय में धारण करो।

भावार्थ :—धन-सम्पत्ति, परिवार, नौकर-चाकर, हाथी, घोड़ा तथा राज्यादि कोई भी पदार्थ आत्मा को सहायक नहीं होते; किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है; वह एकबार प्राप्त

होने के पश्चात् अक्षय हो जाता है—कभी नष्ट नहीं होता, अचल एकरूप रहता है। आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान ही उस सम्यग्ज्ञान का कारण है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीव को करोड़ों उपाय करके उस भेदविज्ञान के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

सम्यग्ज्ञान की महिमा और विषयेच्छा रोकने का उपाय

जो पूरव शिव गये जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनि-नाथ कहैं हैं।
विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै ॥ ८ ॥
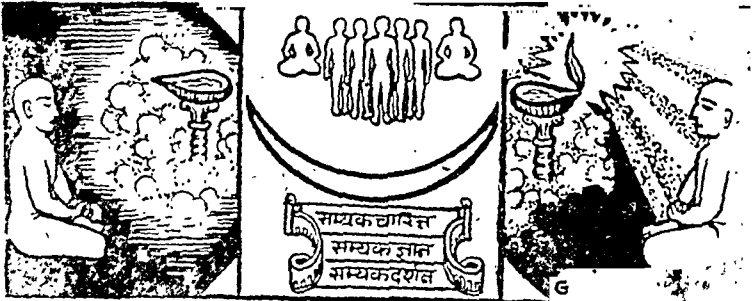
अन्वयार्थः—(पूरव) पूर्वकाल में (जे) जो जीव (शिव) मोक्ष में (गये) हैं, [वर्तमान में] (जाहिं) जा रहे हैं (अरु) और (आगे) भविष्य में (जैहैं) जायेंगे (सो) वह (सव) सव (ज्ञानतनी) सम्यग्ज्ञानकी (महिमा) महिमा है—ऐसा (मुनिनाथ) जिनेन्द्रदेव ने कहा है । (विषयचाह) पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी (दव–दाह) भयङ्कर दावानल (जगत–जन) संसारी जीवोंरूपी (अरनि) अरण्य—पुराने वन को (दझावै) जला रहा है, (तास) उसकी शान्तिका (उपाय) उपाय (आन) दूसरा (न) नहीं है; [मात्र] (ज्ञानघनघान) ज्ञानरूपी वर्षा का समूह (वुझावै) शान्त करता है ।

भावार्थः—भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल में जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, होंगे और (वर्तमान में विदेह-क्षेत्र में) हो रहे हैं-वह इस सम्यग्ज्ञान का ही प्रभाव है ।-ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है। जिसप्रकार दावानल (वन में लगी हुई अग्नि) वहाँ की समस्त वस्तुओं को भस्म कर देता है उसी प्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों की इच्छा संसारी जीवों को जलाती है—दुःख देती है; और जिसप्रकार वर्षा की झड़ी उस दावानल को वुझा देती है उसीप्रकार यह सम्यग्ज्ञान उन विषयों की इच्छा को शान्त कर देता है—नष्ट कर देता है ।

पुण्य–पाप में हर्ष–विषाद का निषेध और तात्पर्य की वात

पुण्य–पाप–फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई ।
लाख वात की वात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद–फंद, नित आतम ध्याओ ।। ९ ।।

अन्वयार्थः—(भाई) हे आत्मार्थी प्राणी ! (पुण्य-फल माहिं) पुण्य के फल में (हरख मत) हर्ष न कर, और (पापफल माहिं) पापके फल में (बिलखौ मत) द्वेष न कर [क्योंकि यह पुण्य और पाप] (पुद्गल परजाय) पुद्गल की पर्यायें हैं। [वे] (उपजि) उत्पन्न होकर (विनसै) नष्ट हो जाती हैं और (फिर) पुनः (थाई) उत्पन्न होती हैं। (उर) अपने अन्तर में (निश्चय) निश्चय से—वास्तव में (लाख बात की बात) लाखों बातों का सार (यही) इसी

प्रकार (लाओ) ग्रहण करो कि (सकल) पुण्य—पापरूप समस्त (जग—दंदफंद) जन्म—मरण के द्वंद्व [—राग—द्वेष] रूप विकारी—मलिन भाव (तोरि) तोड़कर (नित) सदैव (आतम ध्यावो) अपने आत्मा का ध्यान करो।

भावार्थः—आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगी शरीरादि पुण्यके फल हैं; उनसे अपने को लाभ है तथा उनके वियोग से अपने को हानि है—ऐसा न माने; क्योंकि परपदार्थ सदा भिन्न है, ज्ञेयमात्र है; उनमें किसी को अनुकूल-प्रतिकूल अथवा इष्ट-अनिष्ट मानना वह मात्र जीवकी भूल है; इसलिये पुण्य पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये।

यदि किसी भी परपदार्थ को जीव भला या बुरा माने तो उसके प्रति राग, द्वेष या ममत्व हुए बिना नहीं रहता। जिसने परपदार्थ—परद्रव्य-क्षेत्र—काल-भाव को वास्तव में हितकर तथा अहितकर माना है उसने अनन्त परपदार्थों को राग-द्वेष करने योग्य माना है और अनन्त परपदार्थ मुझे सुख—दुःख के कारण हैं ऐसा भी माना है; इसलिये वह भूल छोडकर निज ज्ञानानन्द स्वरूपका निर्णय करके स्वोन्मुख ज्ञाता रहना वह सुखी होने का उपाय है।

पुण्य-पाप का बन्ध वह पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं; उनके उदय में जो संयोग प्राप्त हों वे भी क्षणिक संयोगरूप से आते-जाते हैं। जितने काल तक वे निकट रहें उतने काल भी वे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं हैं।

जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है कि-शुभाशुभ-भाव वह संसार है; इसलिये उसकी रुचि छोडकर, स्वोन्मुख होकर, निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निजआत्मस्वरूप में एकाग्र (लीन) होना ही जीव का कर्तव्य है।

सम्यक्चारित्र का समय और भेद तथा अहिंसाणुव्रत और सत्याणुव्रत का लक्षण

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजै;
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।
त्रसहिंसा को त्याग, वृथा थावर न सँहारै;
पर-वधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(सम्यग्ज्ञानी) सम्यग्ज्ञानी (होय) होकर (बहुरि) फिर (दिढ़) दृढ़ (चारित) सम्यक्चारित्र (लीजै) का पालन करना चाहिये; (तसु) उसके [उस सम्यक्चारित्र के] (एकदेश) एकदेश (अरु) और (सकलदेश) सर्वदेश [ऐसे दो] (भेद) भेद (कहीजे) कहे गये हैं। [उनमें] (त्रसहिंसा) त्रस जीवों की हिंसा का (त्याग) त्याग करना और (वृथा) विना कारण (थावर) स्थावर जीवों का (न सँहारै) घात न करना [वह अहिंसा-अणुव्रत कहलाता है]; (पर वधकार) दूसरों को दुःखदायक, (कठोर) कठोर [और] (निंद्य) निंदनीय (वयन) वचन (नहिं उचारै) न बोलना [वह सत्य-अणुव्रत कहलाता है]।

भावार्थः—सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके सम्यक्चारित्र प्रगट करना चाहिये। उस सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं—(१) एकदेश (अणु, देश, स्थूल) चारित्र और (२) सर्वदेश—(सकल, महा, सूक्ष्म) चारित्र। उनमें सकल चारित्र का पालन मुनिराज करते हैं और देशचारित्र का पालन श्रावक करते हैं। इस चौथी ढाल में देशचारित्र का वर्णन किया गया है। सकल चारित्र का वर्णन छठवीं ढालमें किया जायेगा। त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग करके निष्प्रयोजन स्थावर जीवों का घात न करना सो *अहिंसाअणुव्रत है। दूसरे के प्राणोंको घातक, कठोर तथा निंदनीय वचन न बोलना [तथा दूसरों से न बुलाना, न अनुमोदना सो सत्य अणुव्रत है]।

---

* टिप्पणी:—(१) अहिंसाणुव्रत का धारण करनेवाला जीव "यह जीव, घात करने योग्य है, मैं इसे मारूँ,"—इसप्रकार संकल्प सहित किसी त्रस जीव की संकल्पी हिंसा नहीं करता; किन्तु इस व्रत का धारी आरम्भी उद्योगिनी तथा विरोधिनी हिंसा का त्यागी नहीं होता।

अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत तथा दिग्व्रत का लक्षण

जल-मृतिका विन और नाहिं कछु गहैं अदत्ता;
निज वनिता विन सकल नारिसों रहै विरत्ता।
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै;
दश दिश गमन प्रमाण ठान, तसु सीम न नाखै ॥११॥
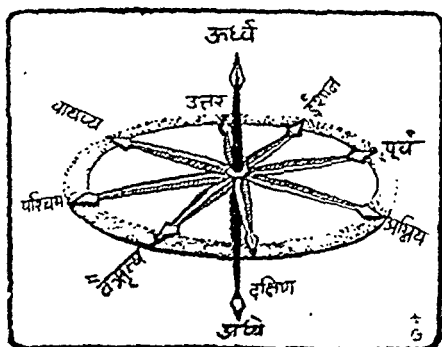
अन्वयार्थः—(जल मृतिका विन) पानी और मिट्टी के अतिरिक्त (और कछु) अन्य कोई वस्तु (अदत्ता) बिना दिये (नाहिं)

---

(२) प्रमाद और कषाय में युक्त होने से जहाँ प्राणघात किया जाता है वहीं हिंसा का दोष लगता है; जहाँ वैसा कारण नहीं है वहाँ प्राणघात होने पर भी हिंसा का दोष नहीं लगता। जिसप्रकार-प्रमाद रहित मुनि गमन करते हैं; वैद्य-डॉक्टर करुणाबुद्धिपूर्वक रोगी का उपचार करते हैं; वहाँ सामनेवाले में प्राणघात होने पर भी हिंसा का दोष नहीं है।

(३) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रत को सर्वज्ञदेव ने बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है।

नहीं (ग्रहै) लेना [उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं]। (निज) अपनी (वनिता विन) स्त्री के अतिरिक्त (सकल नारि सौं) अन्य सर्व स्त्रियों से (विरत्ता) विरक्त (रहै) रहना [वह ब्रह्मचर्याणुव्रत है]। (अपनी) अपनी (शक्ति विचार) शक्ति का विचार करके (परिग्रह) परिग्रह (थोरो) मर्यादित (राखै) रखना [सो परिग्रहपरिमाणाणु-व्रत है]। (दश दिश) दस दिशाओं में (गमन) जाने-आने की (प्रमाण) मर्यादा (ठान) रखकर (तसु) उस (सीमा) सीमा का (न नाखै) उल्लंघन न करना [सो दिग्व्रत है]।

भावार्थः—जन-समुदाय के लिये जहां रोक न हो तथा किसी विशेष व्यक्ति का स्वामित्व न हो—ऐसी पानी तथा मिट्टी जैसी वस्तु के अतिरिक्त परायी वस्तु (जिस पर अपना स्वामित्व न हो) उसके स्वामी के दिये विना न लेना [तथा उठाकर दूसरे को न देना] उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं। अपनी विवाहित स्त्री के सिवा अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। [पुरुष को चाहिये कि अन्य स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री समान माने, तथा स्त्री को चाहिये कि अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता भाई तथा पुत्र समान समझे]।

अपनी शक्ति और योग्यता का ध्यान रखकर जीवन-पर्यंत के लिये धन, धान्यादि बाह्य परिग्रहों का परिमाण (मर्यादा) बांधकर उनसे अधिक की इच्छा न करे उसे *परिग्रहपरिमाणाणु-

---

* टिप्पणीः--(१) यह पांच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण) अणुव्रत हैं; इन हिंसादिक को लोक में भी पाप माना जाता है; उनका इन व्रतों में एकदेश (स्थूलरूप से) त्याग किया गया है; इसी कारण वे अणुव्रत कहे जाते हैं।

(२) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जिसे प्रथम दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रतों को सर्वज्ञ ने बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है।

व्रत कहते हैं। दसों दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा निश्चित करके जीवनपर्यंत उसका उल्लंघन न करना सो दिग्व्रत है। दिशाओं की मर्यादा निश्चित की जाती है इसलिये उसे दिग्व्रत कहा जाता है।

देशव्रत (देशावगाशिक) नामक गुणव्रत का लक्षण

ताहू में फिर ग्राम, गली गृह वाग वजारा;
गमनागमन प्रमाण ठान अन सकल निवारा ॥ १२ ॥

(पूर्वार्द्ध)

अन्वयार्थः—(फिर) फिर (ताहू में) उसमें [किन्हीं प्रसिद्ध-प्रसिद्ध] (ग्राम) गाँव (गली) गली (गृह) मकान (वाग) उद्यान तथा (वजारा) वाजार तक (गमनागमन) जाने-आने का (प्रमाण) माप (ठान) रखकर (अन) अन्य (सकल) सवका (निवारा) त्याग करना [उसे देशव्रत अथवा देशावगाशिकव्रत कहते हैं]।

भावार्थः—दिग्व्रत में जीवनपर्यंत की गई जाने-आने के क्षेत्र की मर्यादा में भी (घडी, घण्टा, दिन, महीना आदि काल के नियमसे) किसी प्रसिद्ध ग्राम, मार्ग, मकान तथा वाजार तक जाने-आने की मर्यादा करके उससे आगे की सीमामें न जाना सो देशव्रत कहलाता है।११। (पूर्वार्द्ध)

अनर्थदंडव्रत के भेद और उनका लक्षण

काहू की धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै;
देय न सो उपदेश, होय अघ वनज कृपी तैं ॥ १२ ॥

(उत्तरार्द्ध)

कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै;
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै।
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै;
और हु अनरथ दंड, हेतु अघ तिन्हैं न कीजै ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—१–(काहू की) किसी के (धनहानि) धन के नाश का, (किसी) किसी की (जय) विजय का [अथवा] (हार) किसी की हार का (न चिन्तै) विचार न करना [उसे अपध्यान अनर्थदंडव्रत कहते हैं।] २–(वनज) व्यापार और (कृषी तैं) खेती से (अघ) पाप (होय) होता है; इसलिये (सो) उसका (उपदेश) उपदेश (न देय) न देना [उसे पापोपदेश अनर्थदंड-व्रत कहा जाता है।] ३–(प्रमाद कर) प्रमाद से [विना प्रयोजन] (जल) जलकायिक, (भूमि) पृथ्वीकायिक, (वृक्ष) वनस्पति-कायिक (पावक) अग्निकायिक [और वायुकायिक] जीवों का (न विराधै) घात न करना [सो प्रमादचर्या अनर्थदंडव्रत कहलाता है।] ४–(असि) तलवार, (धनु) धनुष, (हल) हल [आदि] (हिंसोपकरण) हिंसा होने में कारणभूत पदार्थों को (दे) देकर

(यश) यश (नहिं लाधै) न लेना [सो हिंसादान अनर्थदंडव्रत कहलाता है। (५–रागद्वेष करतार) राग और द्वेष उत्पन्न करनेवाली (कथा) कथाएँ (कबहूँ) कभी भी (न सुनीजै) नहीं सुनना [सो दुःश्रुति अनर्थदंडव्रत कहा जाता है।] (और हु) तथा अन्य भी (अघहेतु) पाप के कारण (अनरथ दंड) अनर्थदंड हैं (तिन्हैं) उन्हें भी (न कीजै) नहीं करना चाहिये।

भावार्थः—किसी के धन का नाश, पराजय अथवा विजय आदि का निंद्य विचार न करना सो पहला अपध्यान अनर्थदंडव्रत कहा जाता है।*

(१) हिंसारूप पापजनकव्यापार तथा खेती आदि का उपदेश न देना वह पापोपदेश अनर्थदंडव्रत है।

(२) प्रमादवश होकर पानी ढोलना, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, आग लगाना—इत्यादि का त्याग करना अर्थात् पांच स्थावरकाय के जीवों की हिंसा न करना उसे प्रमादचर्या अनर्थ-दंडव्रत कहते हैं।

(३) यश प्राप्ति के लिये, किसी के मांगने पर हिंसा के कारण-भूत हथियार न देना सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

(४) राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली विकथा और उपन्यास या शृंगारिक कथाओं के श्रवण का त्याग करना सो दुःश्रुति अनर्थदंडव्रत कहलाता है ॥१३॥

---

* अनर्थदंड दूसरे भी बहुत से हैं। पाँच तो स्थूलता की अपेक्षा से अथवा दिग्दर्शनमात्र हैं। यह सब पापजनक हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये। पापजनक निष्प्रयोजन कार्य अनर्थदंड कहलाता है।

निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक, पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं; निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रत को सर्वज्ञदेव ने बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है।

सामायिक, प्रौपध, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथि संविभागव्रत।

धर उर समताभाव, सदा सामयिक करिये,
परव चतुष्टयमाहिं; पाप तज प्रोपध धरिये;
भोग और उपभोग, नियमकरि ममत निवारै,
मुनि को भोजन देय फेर, निज करहि अहारै ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(उर) मन में (समताभाव) निर्विकल्पता अर्थात् शल्य के अभाव को (धर) धारण करके (सदा) सदा (सामायिक)

सामायिक (करिये) करना [सो सामायिक शिक्षाव्रत है;] (परव चतुष्टयमांहि) चार पर्व के दिनों में (पाप) पापकार्यों को छोड़कर (प्रोषध) प्रोषधोपवास (धरिये) करना [सो प्रोषध-उपवास शिक्षाव्रत है;] (भोग) एकबार उपभोग किया जा सके ऐसी वस्तुओं का तथा (उपभोग) बारंबार उपभोग किया जा सके ऐसी वस्तुओंका (नियमकरि) परिमाण करके—मर्यादा रखकर (ममत) मोह (निवारै) छोड़ दे [सो भोग-उपभोग परिमाणव्रत है;] (मुनि को) वीतरागी मुनि को (भोजन) आहार (देय) देकर (फेर) फिर (निज आहारे) स्वयं भोजन करे [सो अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है ।]

भावार्थः—स्वोन्मुखता द्वारा अपने परिणामों को स्थिर करके प्रतिदिन विधिपूर्वक सामायिक करना सो सामायिक शिक्षाव्रत है ।१। प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन कषाय और व्यापारादि कार्यों को छोड़कर (धर्मध्यानपूर्वक) प्रोषधसहित उपवास करना सो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है ।२। परिग्रह परिणाम-अणुव्रत में निश्चित की हुई भोगोपभोग की वस्तुओं में जीवनपर्यंत के लिये अथवा किसी निश्चित समय के लिये नियम करना सो भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत कहलाता है ।३। निर्ग्रंथ मुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात् स्वयं भोजन करना सो अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत कहलाता है ॥१४॥

निरतिचार श्रावकव्रत पालन करने का फल

बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै,
मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावै;

यों श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलह उपजावै;
तहँतैं चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै ॥१५॥

समाधि-मरण

अन्वयार्थः—जो जीव (बारह व्रत के) बारह व्रतों के (पन पन) पाँच-पाँच (अतीचार) अतिचारों को (न लगावै) नहीं लगाता, और (मरणसमय) मृत्यु काल में (संन्यास) समाधि (धार) धारण करके (तसु) उनके (दोष) दोषों को (नशावै) दूर करता है वह (यों) इसप्रकार (श्रावकव्रत) श्रावक के व्रत (पाल) पालन करके (सोलह) सोलहवें (स्वर्ग) स्वर्ग तक (उपजावे) उत्पन्न होता है, [और] (तहँतैं) वहाँ से (चय) मृत्यु प्राप्त करके (नरजन्म) मनुष्यपर्याय (पाय) पाकर (मुनि) मुनि (ह्वै) होकर (शिव) मोक्ष (जावै) जाता है।

भावार्थः—जो जीव श्रावक के ऊपर कहे हुए बारह व्रतों का विधिपूर्वक जीवनपर्यंत पालन करते हुए उनके पांच-पांच अतिचारों को भी टालता है, और मृत्युकाल में पूर्वोपार्जित दोषों का नाश करने के लिये विधिपूर्वक समाधिमरण (*संल्लेखना)

---

* क्रोधादि के वश होकर विष, शस्त्र अथवा अन्नत्याग आदि से आत्मघात किया जाता है उसे "आत्मघात" कहते हैं; किन्तु 'संल्लेखना' में सम्यग्दर्शनसहित आत्मकल्याण (धर्म) के हेतु से काया और कषाय को कृश करते हुए सम्यक् आराधनापूर्वक समाधिमरण होता है, इसलिये यह आत्मघात नहीं किन्तु धर्मध्यान है।

धारण करके उसके पांच अतिचारोंको भी दूर करता है वह आयु पूर्ण होने पर मृत्यु प्राप्त करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है। फिर देवायु पूर्ण होने पर मनुष्य भव पाकर, मुनिपद धारण करके मोक्ष (पूर्ण शुद्धता) प्राप्त करता है।

सम्यक्चारित्र की भूमिका में रहनेवाले राग के कारण वह जीव स्वर्ग में देवपद प्राप्त करता है; धर्म का फल संसार की गति नहीं है किन्तु संवर-निर्जरारूप शुद्धभाव है; धर्म की पूर्णता वह मोक्ष है।

चौथी ढाल का सारांश

सम्यग्दर्शन के अभावमें जो ज्ञान होता है उसे कुज्ञान (मिथ्याज्ञान) कहा जाता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसप्रकार यद्यपि यह दोनों (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान) साथ ही होते हैं, तथापि उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं और कारण-कार्यभाव का अन्तर है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का निमित्तकारण है।

स्वयं को और परवस्तुओं को स्वसन्मुखतापूर्वक यथावत् जाने वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है; उसकी वृद्धि होने पर अन्त में केवलज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान के अतिरिक्त सुखदायक वस्तु अन्य कोई नहीं है और वही जन्म, जरा तथा मरण का नाश करता है। मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्ज्ञान के विनाक रोड़ो जन्म तक तप तपने से जितने कर्मों का नाश होता है उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के त्रिगुप्ति से क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। पूर्वकाल में जो जीव मोक्ष गये हैं, भविष्य में जायेंगे और वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र से जा रहे हैं—वह सब सम्यग्ज्ञान का प्रभाव है। जिसप्रकार मूसलधार वर्षा वन की भयङ्कर अग्नि को क्षणमात्र में बुझा देती है उसीप्रकार यह सम्यग्ज्ञान विषयवासनाओं को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है।

पुण्य-पाप के भाव वह जीव के चारित्रगुण की विकारी (अशुद्ध) पर्यायें हैं; वे रहँट के घड़ों की भाँति उल्टी-सीधी होती रहती हैं; उन पुण्य-पाप के फलों में जो संयोग प्राप्त होते हैं उनमें हर्ष-शोक करना मूर्खता है। प्रयोजनभूत बात तो यह है कि पुण्य-पाप, व्यवहार और निमित्त की रुचि छोड़कर स्वोन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। इसलिये संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (-तत्त्वार्थों का अनिर्धार) का त्याग करके तत्त्व के अभ्यास द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि मनुष्यपर्याय, उत्तम श्रावककुल और जिनवाणी का सुनना आदि सुयोग—जिसप्रकार समुद्र में डूबा हुआ रत्न पुनः हाथ नहीं आता उसीप्रकार—बारम्बार प्राप्त नहीं होता। ऐसा दुर्लभ सुयोग प्राप्त करके सम्यक्धर्म प्राप्त न करना मूर्खता है।

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके * फिर सम्यक्चारित्र प्रगट करना चाहिये; वहाँ सम्यक्चारित्र की भूमिका में जो कुछ भी राग रहता है वह श्रावक को अणुव्रत और मुनिको पंचमहाव्रत के प्रकार का होता है; उसे सम्यग्दृष्टि पुण्य मानते हैं।

जो श्रावक निरतिचार समाधि-मरण को धारण करता है वह समतापूर्वक आयु पूर्ण होने से योग्यतानुसार सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है, और वहाँ से आयु पूर्ण होने पर मनुष्यपर्याय प्राप्त करता है; फिर मुनिपद प्रगट करके मोक्ष में जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र का पालन करना वह प्रत्येक आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है।

---

* न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं, चारित्राराधनं तस्मात्॥ ३८॥

अर्थः—अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता; इसलिये चारित्र का आराधन ज्ञान होने के पश्चात् कहा है। [पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा ३८]

निश्चयसम्यक्चारित्र ही सच्चा चारित्र है—ऐसी श्रद्धा करना, तथा उस भूमिका में जो श्रावक और मुनिव्रत के विकल्प उठते हैं वह सच्चा चारित्र नहीं किन्तु चारित्र में होनेवाला दोष है। किंतु उस भूमिकामें वैसा राग आये विना नहीं रहता और उस सम्यक्-चारित्र में ऐसा राग निमित्त होता है; उसे सहचर मानकर व्यवहारसम्यक्चारित्र कहा जाता है। व्यवहारसम्यक्चारित्र को सच्चा सम्यक्चारित्र मानने की श्रद्धा छोड़ देना चाहिये।

चौथी ढाल का भेदसंग्रह

काल:—निश्चयकाल और व्यवहारकाल; अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान।

चारित्र:—मोह-क्षोभरहित आत्मा के शुद्ध परिणाम, भावलिंगी श्रावकपद तथा भावलिंगी मुनिपद।

ज्ञान के दोष:—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (-अनिश्चितता)।

दिशा:—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैर्ऋत्य, अग्निकोण, ऊर्ध्व और अधो—यह दस हैं।

पर्वचतुष्टय:—प्रत्येक मास की दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी।

मुनि:—समस्त व्यापार से विरक्त, चार प्रकार की आराधना में तल्लीन, निर्ग्रन्थ और निर्मोह—ऐसे सर्व साधु होते हैं। (नियमसार गाथा—७५)। वे निश्चयसम्यग्दर्शन सहित, विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके, अंतरंगमें शुद्धोपयोग द्वारा अपने आत्माका अनुभव करते हैं। परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं करते। ज्ञानादि स्वभावको ही अपना

मानते हैं; परभावों में ममत्व नहीं करते। किसी को इष्ट अनिष्ट मानकर उनमें रागद्वेष नहीं करते। हिंसादि अशुभ उपयोग का तो उनके अस्तित्व ही नहीं होता। अनेक बार सातवें गुणस्थान के निर्विकल्प आनन्द में लीन होते हैं। जब छट्ठे गुणस्थान में आते हैं तब उन्हें अट्ठाईस मूलगुणों को अखण्डितरूप से पालन करने का शुभविकल्प आता है। उन्हें तीन कषायों के अभावरूप निश्चयसम्यक्चारित्र होता है। भावलिंगी मुनि को सदा नग्न दिगम्बर दशा होती है; उसमें कभी अपवाद नहीं होता। कभी भी वस्त्रादि सहित मुनि नहीं होते।

विकथाः—स्त्री, आहार, देश और राज्य—इन चार की अशुभ-भावरूप कथा सो विकथा है।

श्रावकव्रतः—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रत हैं।

रोगत्रयः—जन्म, जरा और मृत्यु।

हिंसाः—(१) वास्तव में रागादि भावों का प्रगट न होना सो अहिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति होना सो हिंसा है;—ऐसा जैनशास्त्रों का संक्षिप्त रहस्य है।

(२) संकल्पी, आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी—यह चार, अथवा द्रव्यहिंसा और भावहिंसा—यह दो।

श्रुतज्ञानः—(१) मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थों के सम्बन्ध से अन्य पदार्थों को जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। (२) आत्मा की शुद्ध अनुभूतिरूप श्रुतज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं।

संन्यासः—(संल्लेखना) आत्मा का धर्म समझकर अपनी शुद्धता के लिये कषायों को और शरीर को कृश करना (शरीर की ओर का लक्ष छोड़ देना) सो समाधि अथवा संल्लेखना कहलाती है।

संशयः—विरोध सहित अनेक प्रकारों का अवलम्बन करनेवाला ज्ञान; जैसे कि—यह सीप होगी या चाँदी? आत्मा अपना ही कार्य कर सकता होगा या परका भी? देव—गुरु—शास्त्र, जीवादि सात तत्त्व आदि का स्वरूप ऐसा ही होगा?—अथवा जैसा अन्यमतमें कहा है वैसा? निमित्त अथवा शुभराग द्वारा आत्मा का हित हो सकता है या नहीं?

चौथी ढाल का अन्तर-प्रदर्शन

१—दिग्व्रत की मर्यादा तो जीवनपर्यन्त के लिये है, किन्तु देशव्रत की मर्यादा घड़ी, घण्टा आदि नियत किये हुए समय तक की है।

२—परिग्रहपरिमाणव्रत में परिग्रह का जितना प्रमाण (मर्यादा) किया जाता है उससे भी कम प्रमाण भोगोपभोग-परिमाण-व्रतमें किया जाता है।

३—प्रोषध में तो आरम्भ और विषय-कषायादि का त्याग करने पर भी एकबार भोजन किया जाता है: उपवासमें तो अन्न-जल-खाद्य और स्वाद्य—इन चारों आहारों का सर्वथा त्याग होता है। प्रोषध-उपवास में आरम्भ, विषय-कषाय और चारों आहारों का त्याग तथा उसके अगले दिन और पारणे के दिन अर्थात् अगले—पिछले दिन भी एकाशन किया जाता है।

४—भोग तो एक ही बार भोगने योग्य होता है किन्तु उपभोग बारम्बार भोगा जा सकता है। (आत्मा परवस्तु को व्यवहार से भी नहीं भोग सकता; किन्तु मोहद्वारा, मैं इसे भोगता हूँ—ऐसा मानता है और तत्सम्बधी राग को, हर्ष-शोकको भोगता है। वह बतलाने के लिये उसका कथन करना सो व्यवहार है।)

चौथी ढाल की प्रश्नावली

१—अचौर्यव्रत, अणुव्रत, अतिचार, अतिथिसंविभाग, अनध्यवसाय, अनर्थदंड, अनर्थदंडव्रत, अपध्यान, अवधिज्ञान, अहिंसाणुव्रत, उपभोग, केवलज्ञान, गुणव्रत, दिग्व्रत, दुःश्रुति, देशव्रत, देशप्रत्यक्ष, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत, परोक्ष, पापोपदेश, प्रत्यक्ष-प्रमादचर्या, प्रोषध उपवास, ब्रह्मचर्याणुव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत, भोग, मतिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, विपर्यय, व्रत, शिक्षाव्रत, श्रुतज्ञान, सकलप्रत्यक्ष, सम्यक् ज्ञान, सत्याणुव्रत, सामायिक, संशय, स्वस्त्रीसंतोषव्रत, तथा हिंसादान आदि के लक्षण बतलाओ।

२—अणुव्रत, अनर्थदंडव्रत, काल, गुणव्रत, देशप्रत्यक्ष, दिशा, परोक्ष, पर्व, पात्र, प्रत्यक्ष, विकथा, व्रत, रोगत्रय, शिक्षाव्रत, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान सम्यग्ज्ञान के दोष और संलेखना दोष—आदि के भेद बतलाओ।

अणुव्रत, अनर्थदंडव्रत, गुणव्रत—ऐसे नाम रखने का कारण, अविचल ज्ञानप्राप्ति, ग्रैवेयक तक जाने पर भी सुख का अभाव, दिग्व्रत, देशव्रत, पापोपदेश—ऐसे नामों का कारण, पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक का निषेध, शिक्षाव्रत नाम का कारण, सम्यग्ज्ञान, ज्ञान, ज्ञानों की परोक्षता-प्रत्यक्षता-देशप्रत्यक्षता सकलप्रत्यक्षता-आदि के कारण बतलाओ।

४—अणुव्रत और महाव्रत में, दिग्व्रत और देशव्रत में, परिग्रह-परिमाणव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत में, प्रोषध और उपवास में तथा प्रोषधोपवास में, भोग और उपभोग में, यम और नियम में, ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश में तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में क्या अन्तर है वह बतलाओ।

५—अनध्यवसाय, मनुष्यपर्याय आदि की दुर्लभता, विपर्यय, विषय-इच्छा, सम्यग्ज्ञान और संशय के दृष्टान्त दो।

६—अनर्थदंडों का पूर्ण परिमाण, अविचल सुख का उपाय, आत्मज्ञान की प्राप्ति का उपाय, जन्म-मरण दूर करने का उपाय, दर्शन और ज्ञान में पहली उत्पत्ति, धनादिक से लाभ न होना, निरतिचार श्रावकव्रत पालने से लाभ, ब्रह्मचर्याणुव्रती का विचार, भेदविज्ञान की आवश्यकता, मनुष्यपर्याय की दुर्लभता तथा उसकी सफलता का उपाय, मरणसमय का कर्तव्य, वैद्य-डॉक्टर के द्वारा मरण हो तथापि अहिंसा, शत्रु का सामना करना—न करना, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान होने का समय और उसकी महिमा, संल्लेखना की विधि और कर्तव्य, ज्ञान के विना मुक्ति तथा सुख का अभाव, ज्ञान का फल तथा ज्ञानी-अज्ञानी का कर्मनाश और विषयों की इच्छा को शांत करने का उपाय—आदि का वर्णन करो।

७—अचल रहनेवाला ज्ञान, अतिथिसंविभाग का दूसरा नाम, तीन रोगों का नाश करनेवाली वस्तु, मिथ्यादृष्टि मुनि, वर्तमान में मुक्ति हो सके ऐसा क्षेत्र, व्रतधारी को प्राप्त होनेवाली गति, प्रयोजनभूत बात, सर्व को जाननेवाला ज्ञान और सर्वोत्तम सुख देनेवाली वस्तु—इनका मात्र नाम बतलाओ।

८—अमुक शब्द, चरण अथवा पद्यका अर्थ और भावार्थ बतलाओ। चौथी ढाल का सारांश कहो।

९—अणुव्रत, दिग्व्रत, बारह व्रत, शिक्षाव्रत और देशचारित्र के सम्बन्ध में जो जानते हो वह समझाओ।

८ पर-

❁ पाँचवीं ढाल ❁

(चाल छन्द)

भावनाओं के चिंतवन का कारण, उसके अधिकारी और उसका फल

मुनि सकलव्रती वड़भागी, भव-भोगनतैं वैरागी;
वैराग्य उपवान माई, चिंतैं अनुप्रेक्षा भाई ॥ १ ॥
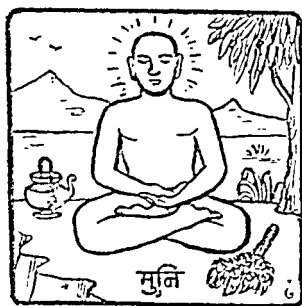
अन्वयार्थः—(भाई) हे भव्य जीव ! (सकलव्रती) महाव्रतों के धारक (मुनि) भावलिंगी मुनिराज (वड़भागी) महान पुरुपार्थी हैं, क्योंकि वे (भव-भोगनतैं) संसार और भोगों से (वैरागी) विरक्त होते हैं और (वैराग्य) वीतरागता को (उपावन) उत्पन्न करने के लिये (माइ) माता समान (अनुप्रेक्षा) वारह भावनाओंका (चिन्तैं) चिंतवन करते हैं।

भावार्थः—पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले भावलिंगी [illegible]राज महापुरुपार्थवान हैं, क्योंकि वे संसार, शरीर और भोगों [illegible] [illegible]न्त विरक्त होते हैं; और जिसप्रकार कोई माता पुत्र को

जन्म देती है उसीप्रकार यह बारह भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करती हैं, इसलिये मुनिराज इन बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं।

भावनाओं का फल और मोक्षसुख की प्राप्ति का समय

इन चिन्तत सम सुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै;
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै ॥ २ ॥
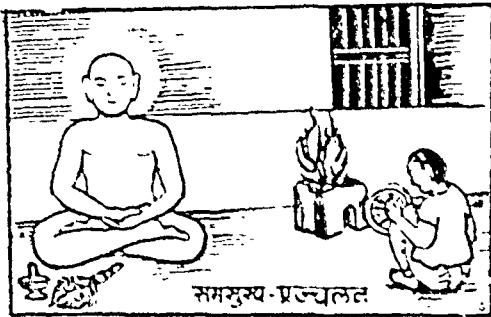
अन्वयार्थः—(जिमि) जिसप्रकार (पवन के) वायु के (लागै) लगने से (ज्वलन) अग्नि (जागै) भभक उठती है, [उसीप्रकार इन बारह भावनाओं का] (चिंतन) चिंतवन करने से (समसुख) समतारूपी सुख (जागै) प्रगट होता है। (जब ही) जब (जिय) जीव (आतम) आत्मस्वरूपको (जानै) जानता है (तबही) तभी (जीव) जीव (शिवसुख) मोक्षसुख को (ठानै) प्राप्त करता है।

भावार्थः—जिसप्रकार वायु लगने से अग्नि एकदम भभक उठती है, उसीप्रकार इन बारह भावनाओं का बारम्बार चिंतवन करने से समता (शांति) रूपी सुख प्रगट हो जाता है—बढ़ जाता है। जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है तब पुरुषार्थ बढ़ाकर पर-

पदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर परमानन्दमय स्वस्वरूपमें लीन होकर समतारसका पान करता है और अन्त में मोक्षसुख प्राप्त करता है ॥२॥

[उन बारह भावनाओं का स्वरूप कहा जाता है—]

१—अनित्य भावना

जोवन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(जोवन) यौवन, (गृह) मकान, (गो) गाय भैंस, (धन) लक्ष्मी, (नारी) स्त्री, (हय) घोड़ा, (गय) हाथी, (जन) कुटुम्ब, (आज्ञाकारी) नौकर-चाकर तथा (इन्द्रिय-भोग) पाँच इन्द्रियों के भोग—यह सब (सुरधनु) इन्द्रधनुष तथा (चपला) बिजली की (चपलाई) चंचलता—क्षणिकता की भाँति (छिन थाई) क्षणमात्र रहनेवाले हैं।

भावार्थः—यौवन, मकान, गाय-भैंस, धन-सम्पत्ति, स्त्री, घोड़ा-हाथी, कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के विषय-यह सर्व वस्तुएँ क्षणिक हैं—अनित्य हैं—नाशवान हैं। जिसप्रकार इन्द्रधनुष्य और बिजली देखते ही देखते विलीन हो

जाते हैं; उसीप्रकार यह यौवनादि कुछ ही काल में नाश को प्राप्त होते हैं; वे कोई पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं हैं; किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है;—

ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके, सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है वह "अनित्य भावना" है। मिथ्यादृष्टि जीव को अनित्यादि एक भी भावना यथार्थ नहीं होती ॥ ३ ॥

२—अशरण भावना

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि, काल दले ते;
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(सुर असुर खगाधिप) देवों के इन्द्र, असुरों के इन्द्र और खगेन्द्र [गरुड़, हंस] (जेते) जो–जो हैं (ते) उन सबका (मृग हरि ज्यों] जिसप्रकार हिरन को सिंह मार डालता है उसीप्रकार (काल) मृत्यु (दले) नाश करता है। (मणि) चिन्तामणि आदि मणिरत्न, (मंत्र) बड़े-बड़े रक्षामंत्र, (तंत्र) तंत्र, (बहु होई) बहुत से होने पर भी (मरते) मरनेवाले को (कोई) वे कोई (न बचावै) नहीं बचा सकते।

भावार्थः—संसार में जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र, (पक्षियों के राजा) आदि हैं उन सबका-जिसप्रकार हिरन को सिंह मार डालता है उसीप्रकार-काल (मृत्यु) नाश करता है। चिंतामणि आदि मणि, मंत्र और जंत्र-तंत्रादि कोई भी मृत्यु से नहीं बचा सकता।

यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। कोई जीव अन्य जीव की रक्षा कर सकने में समर्थ नहीं है; इसलिये परसे रक्षा की आशा करना व्यर्थ है। सर्वत्र-सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है। आत्मा निश्चय से मरता ही नहीं, क्योंकि वह अनादि अनन्त है;—ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है वह "अशरण भावना" है ॥ ४ ॥

३—संसार भावना

चहुँगति दुःख जीव भरै है, परिवर्तन पंच करै है;
सबविधि संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(जीव) जीव (चहुँगति) चार गति में (दुख) दुःख (भरै है) भोगता है और (परिवर्तन पंच) पांच परावर्तन—पाँच प्रकार से परिभ्रमण (करै है) करता है। (संसार) संसार

(सबविधि) सर्व प्रकार से (असारा) साररहित है (यामें) इसमें (सुख) सुख (लगारा) लेशमात्र भी (नाहिं) नहीं है।

भावार्थः—जीव की अशुद्ध पर्याय वह संसार है। अज्ञान के कारण जीव चार गति में दुःख भोगता है और पाँच (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव) परावर्तन करता रहता है; किन्तु कभी शांति प्राप्त नहीं करता; इसलिये वास्तव में संसारभाव सर्वप्रकार से साररहित है, उसमें किंचित्‌मात्र सुख नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार सुख की कल्पना की जाती है वैसा सुख का स्वरूप नहीं है और जिसमें सुख मानता है वह वास्तवमें सुख नहीं है—किन्तु वह परद्रव्य के आलम्बनरूप मलिनभाव होने से आकुलता उत्पन्न करनेवाला भाव है। निज आत्मा ही सुखमय है, उसके ध्रुवस्वभाव में संसार है ही नहीं—ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता में वृद्धि करता है वह "संसार भावना" है ॥ ५ ॥

४—एकत्व भावना

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगै जिय एक हि ते ते;
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥ ६ ॥
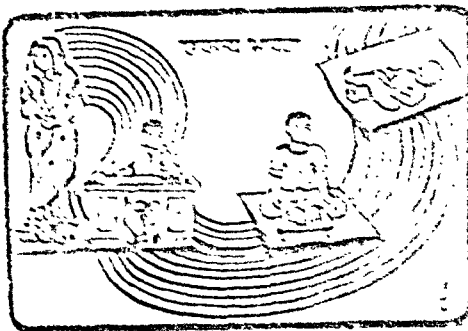
अन्वयार्थः—(जेते) जितने (शुभकरमफल) शुभकर्म के फल और (अशुभकरमफल) अशुभकर्म के फल हैं (ते ते) वे सब (जिय) यह जीव (एक हि) अकेला ही (भोगै) भोगता है; (सुत) पुत्र (दारा) स्त्री (सीरी) साथ देनेवाले (न होय) नहीं होते। (सब) यह सब (स्वारथ के) अपने स्वार्थ के (भीरी) सगे (हैं) हैं।

भावार्थः—जीव का सदा अपने स्वरूपसे अपना एकत्व और परसे विभक्तपना है; इसलिये वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है—परका कुछ नहीं कर सकता। इसलिये जीव जो भी शुभ या अशुभ भाव करता है उनका फल (-आकुलता) वह स्वयं अकेला ही भोगता है; उसमें अन्य कोई-स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब परपदार्थ हैं और वे सब पदार्थ जीव को ज्ञेयमात्र हैं, इसलिये वे वास्तव में जीव के सगे-सम्बन्धी हैं ही नहीं; तथापि अज्ञानी जीव उन्हें अपना मानकर दुःखी होता है। परके द्वारा अपना भला बुरा होना मानकर परकी साथ कर्तृत्वममत्व का अधिकार मानता है वह अपनी भूलसे ही अकेला दुःखी होता है।

संसार में और मोक्ष में यह जीव अकेला ही है—ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्ध आत्मा के साथ ही सदैव अपना एकत्व मानकर अपनी निश्चयपरिणति द्वारा शुद्ध एकत्व की वृद्धि करता है वह "एकत्व भावना" है ॥ ६ ॥

५—अन्यत्व भावना

जल—पय ज्यों जिय—तन मेला, पै भिन्न—भिन्न नहिं मेला;
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा ॥ ७ ॥

अन्यत्व-भावना

अन्वयार्थः—(जिय—तन) जीव और शरीर (जल—पय ज्यों) पानी और दूध की भाँति (मेला) मिले हुये हैं (पै) तथापि (मेला) एकत्रित-एकरूप (नहिं) नहीं हैं, (भिन्न-भिन्न) पृथक्-पृथक् हैं, (तो) तो फिर (प्रगट) जो बाह्य में प्रगटरूप से (जुदे) पृथक् दिखाई देते हैं ऐसे (धन) लक्ष्मी, (धामा) मकान, (सुत) पुत्र और (रामा) स्त्री आदि (मिलि) मिलकर (इक) एक (क्यों) कैसे (हैं) हो सकते हैं ?

भावार्थः—जिसप्रकार दूध और पानी एक आकाश क्षेत्र में मिले हुए हैं, परन्तु अपने अपने—गुण आदि की अपेक्षा से दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए-एकाकार दिखाई देते हैं तथापि वे दोनों अपने-अपने स्वरूपादि की अपेक्षा से (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे) बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं-कभी एक नहीं होते। जब जीव और शरीर भी पृथक्-पृथक् हैं, तो फिर प्रगटरूप से भिन्न दिखाई देनेवाले ऐसे मोटरगाड़ी-धन, मकान, बाग, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ कैसे एकमेक हो सकते हैं ? अर्थात् स्त्री—पुत्रादि कोई भी परवस्तु

अपनी नहीं है—इसप्रकार सर्व परपदार्थों को अपने से भिन्न जानकर, स्वसन्मुखतापूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है, वह " अन्यत्व भावना " है ॥ ७ ॥

६—अशुचि भावना

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली;
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी ॥ ८ ॥
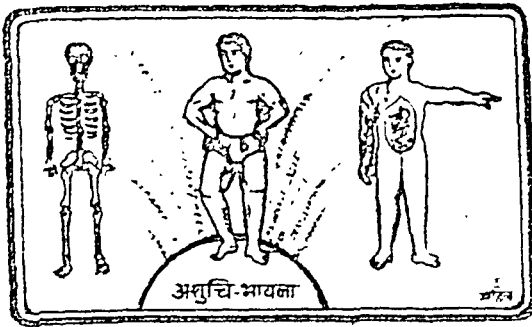
अन्वयार्थः—जो (पल) मांस (रुधिर) रक्त (राध) पीव और (मल) विष्टा की (थैली) थैली है, (कीकस) हड्डी, (वसादितैं) चरबी आदि से (मैली) अपवित्र है और जिसमें (घिनकारी) घृणा-ग्लानि उत्पन्न करनेवाले (नव द्वार) नौ दरवाजे (बहैं) बहते हैं (अस) ऐसे (देह) शरीर में (यारी) प्रेम-राग (किमि) कैसे (करै) किया जा सकता है ?

भावार्थः—यह शरीर तो मांस, रक्त, पीव, विष्टा आदि की थैली है और वह हड्डियाँ, चरबी आदि से भरा होने के कारण अपवित्र है; तथा नौ द्वारों से मैल बाहर निकलता है; ऐसे शरीर के प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है ? यह शरीर ऊपर

से तो मक्खी के पंख समान पतली चमड़ी से मढ़ा हुआ है, इस-लिये बाहर से सुन्दर लगता है. किन्तु यदि उसकी भीतरी हालत का विचार किया जाये तो उसमें अपवित्र वस्तुएँ भरी हैं. इसलिये उसमें ममत्व-अहङ्कार या राग करना व्यर्थ है।

यहाँ शरीर को मलिन बतलाने का आशय—भेदज्ञान द्वारा शरीर के स्वरूप का ज्ञान कराके, अविनाशी निज पवित्रपद में रुचि कराना है, किन्तु शरीर के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न कराने का आशय नहीं है। शरीर तो उसके अपने स्वभावसे ही अशुचिमय है; **तो यह भगवान आत्मा निज स्वभावसे ही शुद्ध और सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा अपनी पर्याय में शुचिता की (पवित्रता की) वृद्धि करता है वह "अशुचि भावना" है ॥८॥**

७—आस्रव भावना

जो योगन की चपलाई, तातैं ह्वै आस्रव भाई;
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(भाई) हे भव्य जीव! (योगनकी) योग की (जो) जो (चपलाई) चंचलता है (तातैं) उससे (आस्रव) आस्रव

(ह्वै) होता है, और (आस्रव) वह आस्रव (घनेरे) अत्यंत (दुखकार) दुःखदायक है, इसलिये (वुधिवन्त) वुद्धिमान (तिन्हैं) उसे निरवेरे) दूर करें।

भावार्थः--विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी दशा जीव में होती है वह भावआस्रव है; और उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वतः आना (आत्मा के साथ एकक्षेत्र में आगमन होना) सो द्रव्यआस्रव है। [उसमें जीव की अशुद्ध पर्यायें निमित्तमात्र है।]

पुण्य और पाप दोनों आस्रव और वन्ध के भेद हैं।

पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि शुभभाव सरागी जीव को होते हैं वे अरूपी अशुद्ध भाव हैं, और वह भावपुण्य है। तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वतः आना (आत्मा के साथ एकक्षेत्र में आगमन होना) सो द्रव्यपुण्य है। [उसमें जीव की अशुद्ध पर्यायें निमित्तमात्र है।]

पापः—हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जो अशुभभाव है वह भावपाप है, और उस समय कर्मयोग्य पुद्गलों का आगमन होना सो द्रव्यपाप है। [उसमें जीवकी अशुद्ध पर्यायें निमित्तमात्र हैं।]

परमार्थ से (वास्तव में) पुण्य-पाप (शुभाशुभभाव) आत्मा को अहितकर हैं, तथा वह आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है। द्रव्यपुण्य-पाप तो परवस्तु हैं, वे कहीं आत्मा-का हित-अहित नहीं कर सकते।—ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है; और इसप्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है—उसे "आस्रव भावना" कहते हैं ॥९॥

८—संवर भावना

जिन पुण्य–पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥ १० ॥
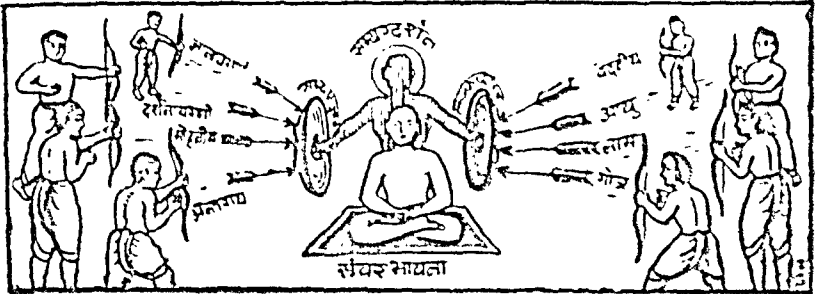
अन्वयार्थः—(जिन) जिन्होंने (पुण्य) शुभभाव और (पाप) अशुभभाव (नहिं कीना) नहीं किये, तथा मात्र (आतम) आत्मा के (अनुभव) अनुभव में [शुद्ध उपयोग में] (चित) ज्ञान को (दीना) लगाया है (तिनही) उन्होंने (आवत) आते हुए (विधि) कर्मों को (रोके) रोका है और (संवर लहि) संवर प्राप्त करके (सुख) सुख का (अवलोके) साक्षात्कार किया है।

भावार्थः—आस्रव का रोकना वह संवर है। सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं। शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग दोनों बन्ध के कारण हैं–ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही जानता है। यद्यपि साधक को निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वह दोनों को बन्ध का कारण मानता है इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जितने अंश में शुद्धता करता है उतने अंश में उसे संवर होता है, और वह क्रमशः शुद्धता में वृद्धि करके पूर्ण शुद्धता (संवर) प्राप्त करता है। वह "संवर भावना" है ॥ १० ॥

९—निर्जरा भावना

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना;
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिव सुख दरसावै ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—जो (निजकाल) अपनी-अपनी स्थिति (पाय) पूर्ण होने पर (विधि) कर्म (झरना) खिर जाते हैं (तासों) उससे (निज काज) जीव का धर्मरूपी कार्य (न सरना) नहीं होता; किन्तु (जो) जो [निर्जरा] (तप करि) आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा (कर्म) कर्मों का (खिपावै) नाश करती है [वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा है।] (सोई) वह (शिवसुख) मोक्ष का सुख (दरसावै) दिखलाती है।

भावार्थः—अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रतिसमय अज्ञानी को भी होता है; वह कहीं शुद्धि का कारण नहीं होता। परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अर्थात् आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कहलाती है। तदनुसार शुद्धि की वृद्धि होते होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है; तब जीव शिवसुख

(सुख की पूर्णतारूप मोक्ष) प्राप्त करता है।—ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जो शुद्धि की वृद्धि करता है वह "निर्जराभावना" है ॥११॥

१०—लोक भावना

किन हू न करौ न धरै को; षड्द्रव्यमयी न हरे को;
सो लोकमांहि विन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता ॥१२॥
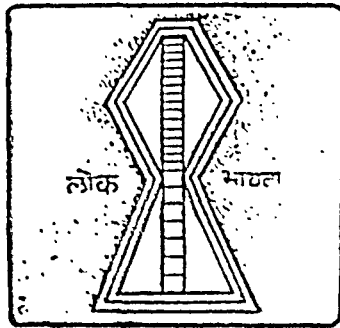
अन्वयार्थः—इस लोक को (किन हू) किसी ने (न करौ) बनाया नहीं है, (को) किसी ने (न धरै) टिका नहीं रखा है, (को) कोई (न हरै) नाश नहीं कर सकता; [और यह लोक] (षड्द्रव्यमयी) छह द्रव्यस्वरूप है—छह द्रव्यों से परिपूर्ण है (सो) ऐसे (लोकमांहि) लोक में (विन समता) वीतरागी समता विना (नित) सदैव (भ्रमता) भटकता हुआ (जीव) (दुःख सहै) दुःख सहन करता है।

भावार्थः—ब्रह्मा आदि किसी ने इस लोक बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसी ने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसी से यह नष्ट नहीं होता; किन्तु यह छह द्रव्य-

मय लोक स्वयं से ही अनादि-अनन्त है; छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूप-से स्थित रहकर निरन्तर अपनी नई-नई पर्यायों (अवस्थाओं) से उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करते रहते हैं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है; यह छह द्रव्यस्वरूप लोक वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ; मेरा शाश्वत चैतन्य लोक ही मेरा स्वरूप है।—ऐसा धर्मी जीव विचार करता है और स्वोन्मुखता द्वारा विषमता मिटाकर, साम्यभाव-वीतरागता बढाने का अभ्यास करता है वह लोकभावना है ॥ १२ ॥

११—बोधिदुर्लभ भावना

अंतिम-ग्रीवकलौं की हद, पायो अनंत विरियां पद;
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ ॥ १३ ॥
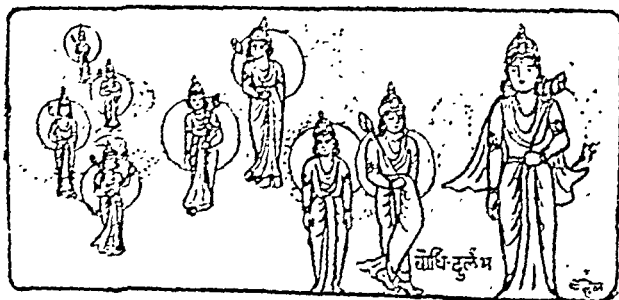
अन्वयार्थः—(अंतिम) अंतिम—नवें (ग्रीवकलौंकी हद) ग्रैवेयक तक के (पद) पद (अनंत विरियां) अनन्तबार (पायो) प्राप्त किये, तथापि (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (न लाधौ) प्राप्त न हुआ; (दुर्लभ) ऐसे दुर्लभ सम्यग्ज्ञान को (मुनि) मुनिराजों ने (निज में) अपने आत्मा में (साधौ) धारण किया है।

भावार्थः—मिथ्यादृष्टि जीव मंद कषाय के कारण अनेकवार ग्रैवेयक तक उत्पन्न होकर अहमिन्द्रपद को प्राप्त हुआ है, परन्तु उसने एकवार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना वह अपूर्व है; उसे तो स्वोन्मुखता के अनन्त पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा होने पर विपरीत अभिप्राय आदि दोषों का अभाव होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान आत्मा के आश्रयसे ही होते हैं। पुण्यसे, शुभराग से, जड़ कर्मादि से नहीं होते। इस जीव ने बाह्य संयोग, चारों गति के लौकिक पद अनन्तवार प्राप्त किये हैं किन्तु निज आत्मा का यथार्थ स्वरूप स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके उसे कभी नहीं समझा, इसलिये उसकी प्राप्ति अपूर्व है। कोई भी लौकिक पद अपूर्व नहीं है।

बोधि अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकताः उस बोधि की प्राप्ति प्रत्येक जीव को करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव स्वसन्मुखतापूर्वक ऐसा चिंतवन करता है और अपनी बोधि और शुद्धि की वृद्धी का बारम्बार अभ्यास करता है वह "बोधि दुर्लभ भावना" है ॥ १३ ॥

१२—धर्म भावना

जो भाव मोह तैं न्यारे, दृग-ज्ञान व्रतादिक सारे;
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारे ॥१४॥
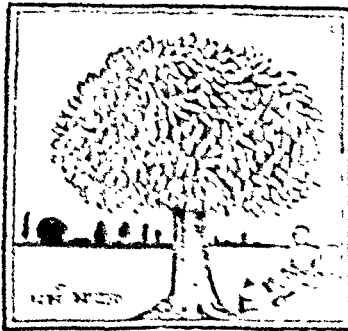
अन्वयार्थः—(मोह तैं) मोह से (न्यारे) भिन्न, (सारे) साररूप अथवा निश्चय (जो) जो (दृग–ज्ञान–व्रतादिक) दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय आदिक (भाव) भाव हैं (सो) वह (धर्म) धर्म कहलाता है। (जब) जब (जिय) जीव (धारे) उसे धारण करता है (तब ही) तभी वह (अचल सुख) अचल सुख--मोक्ष (निहारे) देखता है–प्राप्त करता है।

भावार्थः--मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्वश्रद्धान; उससे रहित निश्चयसम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) ही साररूप धर्म है। व्यवहार रत्नत्रय वह धर्म नहीं है---ऐसा बतलाने के लिये यहाँ गाथा में "सारे" शब्द का प्रयोग किया है। जब जीव निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को स्व-आश्रय द्वारा प्रगट करता है तभी वह स्थिर, अक्षयसुख को (मोक्ष को) प्राप्त करता है। इसप्रकार चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वोन्मुखता द्वारा शुचि की वृद्धि बारम्बार करता है। वह "धर्मभावना" ॥१४॥

आत्मानुभवपूर्वक भावलिंगी मुनि का स्वरूप

सो धर्म मुनिनकरि धरिये, तिनकी करतूत उचरिये;
ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥१५॥

अन्वयार्थः—(सो) ऐसा रत्नत्रयस्वरूप (धर्म) धर्म (मुनिनकरि) मुनियों द्वारा (धरियें) धारण किया जाता है; (तिनकी) उन मुनियों की (करतूत) क्रियाएँ (उचरिये) कही जाती हैं। (भविप्रानी) हे भव्यजीवो ! (ताको) उसे (सुनिये) सुनो और (अपनी) अपने आत्मा के (अनुभूति) अनुभव को (पिछानो) पहिचानो।

भावार्थः--निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को भावलिंगी दिगम्बर जैन मुनि ही अंगीकार करते हैं—अन्य कोई नहीं। अब, आगे उन मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन किया जाता है। हे भव्यो! उन मुनिवरों के चारित्र सुनो और अपने आत्मा का अनुभव करो ॥१५॥

पाँचवीं ढाल का सारांश

यह बारह भावनाएँ चारित्र गुण की आंशिक शुद्ध पर्यायें हैं; इसलिये वे सम्यग्दृष्टि जीव को ही हो सकती हैं। सम्यक् प्रकार से यह बारह प्रकार की भावनाएँ भाने से वीतरागता की वृद्धि होती है; उन बारह भावनाओं का चिंतवन मुख्यरूप से तो वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिराजको ही होता है तथा गौणरूपसे सम्यग्दृष्टि को होता है। जिसप्रकार पवन के लगने से अग्नि भभक उठती है, उसीप्रकार अंतरंग परिणामों की शुद्धता सहित इन भावनाओं का चिंतवन करने से समताभाव प्रगट होता है और उससे मोक्षसुख प्रगट होता है। स्वोन्मुखतापूर्वक इन भावनाओं से संसार, शरीर और भोगों के प्रति विशेष उपेक्षा होती है और आत्मा के परिणामों की निर्मलता बढ़ती है। [इन बारह भावनाओं का स्वरूप विस्तार से जानना हो तो "स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा," "ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।]

अनित्यादि चिंतवन द्वारा शरीरादि को बुरा जानकर, अहितकारी मानकर उनसे उदास होने का नाम अनुप्रेक्षा नहीं है; क्योंकि यह तो जिसप्रकार पहले किसी को मित्र मानता था तब उसके प्रति राग था और फिर उसके अवगुण देखकर उसके प्रति उदासीन हो गया। उसीप्रकार पहले शरीरादि से राग था, किन्तु बाद में उनके अनित्यादि अवगुण देखकर उदासीन हो गया; परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। किन्तु-अपने तथा शरीरादि के

यथावत् स्वरूप को जानकर, भ्रम का निवारण करके, उन्हें भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना—ऐसी यथार्थ उदासीनता के हेतु अनित्यता आदि का यथार्थ चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० ३३६)

पाँचवीं ढाल का भेद संग्रह

अनुप्रेक्षा अथवा भावनाः—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, और धर्म—यह बारह हैं।

इन्द्रियों के विषयः—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द—यह पाँच हैं।

निर्जराः—के चार भेद हैंः—अकाम, सविपाक, सकाम, अविपाक।

योगः—द्रव्य और भाव।

परिवर्तनः—के पाँच प्रकार हैंः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव।

मलद्वारः—दो कान, दो आँखें, दो नासिका छिद्र, एक मुँह, तथा दो मल-मूत्रद्वार इस प्रकार नौ हैं।

वैराग्यः—संसार, शरीर और भोग—इन तीनों से उदासीनता।

कुधातुः—पीव, लही, वीर्य, मल, चरबी, मांस और हड्डी आदि।

पाँचवीं ढाल का लक्षण संग्रह

अनुप्रेक्षा भावनाः—भेदज्ञानपूर्वक संसार, शरीर और भोगादि के स्वरूप का बारम्बार विचार करके उनके प्रति उदासीन भाव उत्पन्न करना।

अशुभ उपयोगः—हिंसादि में अथवा कषाय, पाप और व्यसनादि निन्दापात्र कार्यों में प्रवृत्ति।

असुरकुमारः—असुर नामक देवगति–नामकर्म के उदयवाले भवनवासी देव।

कर्मः—आत्मा रागादि विकाररूप से परिणमित हो तो उसमें निमित्तरूप होनेवाले जड़कर्म–द्रव्यकर्म।

गतिः—नरक, तिर्यञ्च, देव और मनुष्यरूप जीव की अवस्था–विशेष को गति कहते हैं; उसमें गति नामक नामकर्म निमित्त है।

ग्रैवेयकः—सोलहवें स्वर्ग से ऊपर और प्रथम अनुदिश से नीचे, देवों को रहनेके स्थान।

देवः—देवगति को प्राप्त जीवों को देव कहते हैं; वे अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व–इन आठ सिद्धि (ऐश्वर्य) वाले होते हैं; उनके मनुष्यसमान आकारवाला सप्त कुधातु रहित सुन्दर शरीर होता है।

धर्मः—दुःख से मुक्ति दिलानेवाला; निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष-मार्ग; जिससे आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है। (रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र।)

धर्म के भिन्न-भिन्न लक्षणः—(१) वस्तु का स्वभाव वह धर्म; (२) अहिंसा; (३) उत्तमक्षमादि दस लक्षण; (४) निश्चयरत्नत्रय।

पापः—मिथ्यादर्शन; आत्मा की विपरीत समझ; हिंसादि अशुभ भाव सो पाप है।

पुण्यः—दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादि के शुभभाव; मंदकषाय वह जीव के चारित्रगुण की अशुद्ध दशा है; पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं, बन्धन के कारण हैं।

बोधिः—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता।

मुनिः-(साधु परमेष्ठी):—समस्त व्यापार से विमुक्त, चार प्रकार की आराधना में सदा लीन, निर्ग्रन्थ और निर्मोह—ऐसे सर्व साधु होते हैं। समस्त भावलिंगी मुनियों को नग्न दिगम्बर दशा तथा साधु के २८ मूलगुण होते हैं।

योगः—मन, वचन, काया के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होना उसे **द्रव्ययोग** कहते हैं। कर्म और नोकर्म के ग्रहण में निमित्तरूप जीव की शक्ति को **भावयोग** कहते हैं।

शुभ उपयोगः—देवपूजा, स्वाध्याय, दया, दानादि, अणुव्रत-महाव्रतादि शुभभावरूप आचरण।

सकलव्रतः—५-महाव्रत, ५-समिति, ६-आवश्यक, ५-इन्द्रिय जय, ७-केशलोच, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े आहार, दिन में एकबार आहार-जल, तथा नग्नता आदि का पालन—सो व्यवहार से सकलव्रत हैं; और रत्नत्रय की एकतारूप आत्मस्वभाव में स्थिर होना सो निश्चय से सकलव्रत है।

पापः—मिथ्यादर्शन; आत्मा की विपरीत समझ; हिंसादि अशुभ भाव सो पाप है।

पुण्यः—दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादि के शुभभाव; मंदकषाय वह जीव के चारित्रगुण की अशुद्ध दशा है; पुण्य–पाप दोनों आस्रव हैं, बन्धन के कारण हैं।

बोधिः—सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता।

मुनिः–(साधु परमेष्ठी):—समस्त व्यापार से विमुक्त, चार प्रकार की आराधना में सदा लीन, निर्ग्रन्थ और निर्मोह—ऐसे सर्व साधु होते हैं। समस्त भावलिंगी मुनियों को नग्न दिगम्बर दशा तथा साधु के २८ मूलगुण होते हैं।

योगः—मन, वचन, काया के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होना उसे द्रव्ययोग कहते हैं। कर्म और नोकर्म के ग्रहण में निमित्तरूप जीव की शक्ति को भावयोग कहते हैं।

शुभ उपयोगः—देवपूजा, स्वाध्याय, दया, दानादि, अणुव्रत–महाव्रतादि शुभभावरूप आचरण।

सकलव्रतः—५–महाव्रत, ५–समिति, ६–आवश्यक, ५–इन्द्रिय जय, ७–केशलोच, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े–खड़े आहार, दिन में एकबार आहार–जल, तथा नग्नता आदि का पालन—सो व्यवहार से सकलव्रत हैं; और रत्नत्रय की एकतारूप आत्मस्वभाव में स्थिर होना सो निश्चय से सकलव्रत है।

पापः—मिथ्यादर्शन; आत्मा की विपरीत समझ; हिंसादि अशुभ भाव सो पाप है।

पुण्यः—दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादि के शुभभाव; मंदकषाय वह जीव के चारित्रगुण की अशुद्ध दशा है; पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं, बन्धन के कारण हैं।

बोधिः—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता।

मुनिः-(साधु परमेष्ठी)ः—समस्त व्यापार से विमुक्त, चार प्रकार की आराधना में सदा लीन, निर्ग्रन्थ और निर्मोह—ऐसे सर्व साधु होते हैं। समस्त भावलिंगी मुनियों को नग्न दिगम्बर दशा तथा साधु के २८ मूलगुण होते हैं।

योगः—मन, वचन, काया के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होना उसे **द्रव्ययोग** कहते हैं। कर्म और नोकर्म के ग्रहण में निमित्तरूप जीव की शक्ति को **भावयोग** कहते हैं।

शुभ उपयोगः—देवपूजा, स्वाध्याय, दया, दानादि, अणुव्रत-महाव्रतादि शुभभावरूप आचरण।

सकलव्रतः—५-महाव्रत, ५-समिति, ६-आवश्यक, ५-इन्द्रिय जय, ७-केशलोच, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खड़े-खड़े आहार, दिन में एकबार आहार-जल, तथा नग्नता आदि का पालन—सो व्यवहार से सकलव्रत हैं; और रत्नत्रय की एकतारूप आत्मस्वभाव में स्थिर होना सो निश्चय से सकलव्रत है।

सकलव्रती:—(सकलव्रतों के धारक) रत्नत्रय की एकतारूप स्वभाव में स्थिर रहनेवाले महाव्रत के धारक दिगम्बर मुनि वे निश्चय सकलव्रती हैं।

अन्तर-प्रदर्शन

१—अनुप्रेक्षा और भावना पर्यायवाची शब्द हैं; उनमें कोई अन्तर नहीं है।

२—धर्मभावनामें तो वारम्वार विचार की मुख्यता है और धर्म में निज गुणों में स्थिर होने की प्रधानता है।

३—व्यवहार सकलव्रत में तो पापों का सर्वदेश त्याग किया जाता है और व्यवहार अणुव्रत में उसका एकदेश त्याग किया जाता है; इतना इन दोनों में अन्तर है।

पाँचवीं ढाल की प्रश्नावली

१—अनित्यभावना, अन्यत्वभावना, अविपाकनिर्जरा, अकामनिर्जरा, अशरणभावना, अशुचिभावना, आस्रवभावना, एकत्वभावना, धर्मभावना, निश्चयधर्म, बोधिदुर्लभभावना, लोकभावना, संवरभावना, सकामनिर्जरा, सविपाकनिर्जरा आदि के लक्षण समझाओ।

२—सकलव्रत में और विकलव्रत में, अनुप्रेक्षा में और भावना में, धर्म में और धर्मद्रव्य में, धर्म में और धर्म भावना में तथा एकत्व भावना और अन्यत्व भावना में अन्तर बतलाओ।

३—अनुप्रेक्षा, अनित्यता, अन्यत्व और अशरणपने का स्वरूप दृष्टान्त सहित समझाओ।

४—अकाम निर्जरा का निष्प्रयोजनपना, अचल सुख की प्राप्ति, कर्म के आस्रव का निरोध, पुण्य के त्याग का उपदेश और सांसारिक सुखों की असारता आदि के कारण बतलाओ।

५—अमुक भावना का विचार और लाभ, आत्मज्ञान की प्राप्ति का समय और लाभ, इन्द्रधनुष, औषधि सेवनकी सार्थकता-निरर्थकता बारह भावनाओं के चिंतवन से लाभ, मंत्रादि की सार्थकता और निरर्थकता। वैराग्य की वृद्धि का उपाय, इन्द्रधनुष तथा बिजली का दृष्टान्त क्या समझाते हैं? लोकके कर्ताहर्ता मानने से हानि, समता न रखने से हानि, सांसारिक सुख का परिणाम और मोक्ष सुख की प्राप्ति का समय-आदि का स्पष्ट वर्णन करो।

६—अमुक शब्द, चरण तथा छन्द का अर्थ-भावार्थ समझाओ। लोक का नकशा बनाओ और पाँचवीं ढाल का सारांश कहो।

❀ छठवीं ढाल ❀

(हरिगीत छन्द)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य महाव्रत के लक्षण

षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी;
रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी।
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू विना दीयौ गहैं
अठदशसहस विध शील धर, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं ॥१॥

अन्वयार्थः—(षट्काय जीव) छह काय के जीवों को (न हननतैं) घात न करने के भाव से (सब विध) सर्व प्रकार की (दरवहिंसा) द्रव्य-हिंसा (टरी) दूर हो जाती है और (रागादि भाव) राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों को (निवारतैं) दूर करने से (भावित हिंसा) भावहिंसा भी (न अवतरी) नहीं होती, (जिनके) उन मुनियों को (लेश) किंचित् (मृषा) झूठ (न) नहीं होती, (जल) पानी और (मृण) मिट्टी (हू) भी (विना दीयो) दिये विना (न गहैं) ग्रहण नहीं करते; तथा (अठदशसहस) अठारह हजार (विध) प्रकार के (शील) शील को—ब्रह्मचर्य को (धर) धारण करके (नित) सदा (चिद्ब्रह्म में) चैतन्यस्वरूप आत्मा में (रमि रहैं) लीन रहते हैं।

भावार्थः—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वस्वरूप में निरन्तर एकाग्रता पूर्वक रमण करना ही मुनिपना है। ऐसी भूमिका में निर्विकल्प ध्यानदशारूप सातवां गुणस्थान बारम्बार आता ही है। छठवें गुणस्थान के समय उन्हें पंच महाव्रतः नग्नता समिति आदि अट्ठाईस मूल गुण के शुभभाव होते हैं, किन्तु उसे वे धर्म
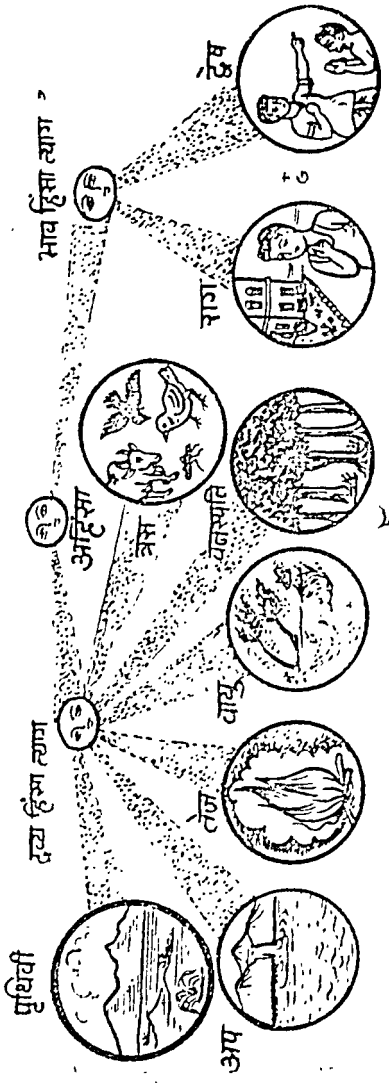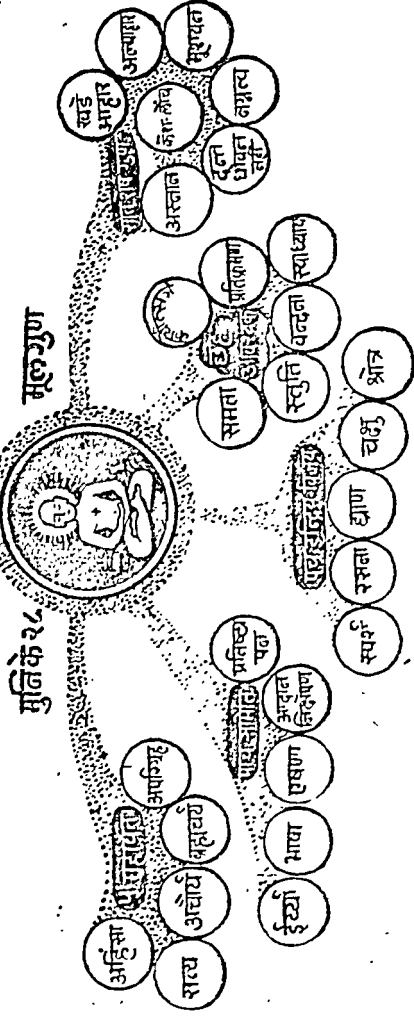
नहीं मानते; तथा उस काल भी उन्हें तीन कषाय चौकडी के अभावरूप शुद्ध परिणति निरन्तर वर्तती ही है।

छह काय (पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर काय तथा एक त्रस काय) के जीवों का घात करना सो द्रव्यहिंसा है और रागद्वेष, काम, क्रोध, मान इत्यादि भावों की उत्पत्ति होना सो भावहिंसा है। वीतरागी मुनि (साधु) यह दो प्रकार की हिंसा नहीं करते, इसलिये उनको (१) अहिंसा महाव्रत* होता है। स्थूल या सूक्ष्म—ऐसे दोनों प्रकार की झूठ वे नहीं बोलते, इसलिये उनको (२) सत्य महाव्रत होता है। और दूसरी किसी वस्तु की तो बात ही क्या, किन्तु मिट्टी और पानी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते, इसलिए उनको (३) अचौर्यमहाव्रत होता है। शील के अठारह हजार भेदों का सदा पालन करते हैं और चैतन्यरूप आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं, इसलिये उनको (४) ब्रह्मचर्य (आत्म-स्थिरतारूप) महाव्रत होता है। १।

परिग्रहत्याग महाव्रत, ईर्या समिति÷ और भाषा समिति

अंतर चतुर्दस भेद बाहर, संग दसधा तैं टलैं;
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं।
जग-सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं;
भ्रमरोग-हर जिनके वचन-मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं॥ २॥

---

* यहाँ वाक्य बदलने से क्रमशः महाव्रतों के लक्षण बनते हैं। जैसे कि—दोनों प्रकार की हिंसा न करना सो अहिंसा महाव्रत है—इत्यादि।

÷ अदत्त वस्तुओं का प्रमाद से ग्रहण करना ही चोरी कहलाती है; इसलिये प्रमाद न होने पर भी मुनिराज नदी तथा झरने आदि का प्रासुक हुआ जल, भस्म (राख) तथा अपने आप गिरे हुए सेमल के फल और तुम्बी फल आदि का ग्रहण कर सकते हैं—ऐसा "श्लोकवार्तिकालंकार" का अभिमत है। (पृ० ४६३)

अन्वयार्थः—[वे वीतरागी दिगम्बर जैन मुनि] (चतुर्दस भेद) चौदह प्रकार के (अन्तर) अंतरंग तथा (दसधा) दस प्रकार के (वाहिर) वहिरंग (संग) परिग्रह से (टलैं) रहित होते हैं। (परमाद) प्रमाद--असावधानी (तजि) छोड़कर (चौकर) चार हाथ (मही) जमीन (लखि) देखकर (ईर्या) ईर्या (समिति तैं) समिति से (चलैं) चलते हैं; और (जिनके) जिन मुनिराजों के (मुखचन्द्र तैं) मुखरूपी चन्द्र से (जग सुहितकर) जगत का सच्चा हित करनेवाला तथा (सब अहितहर) सर्व अहित का नाश करनेवाला, (श्रुति सुखद) सुनने में प्रिय लगे ऐसा, (सब संशय) समस्त संशयों का (हरैं) नाशक और (भ्रम रोगहर) मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला (वचन अमृत) वचनरूपी अमृत (झरैं) झरता है।

भावार्थः—वीतरागी मुनि चौदह प्रकार के अन्तरंग और दस प्रकार के वहिरंग परिग्रहों से रहित होते हैं, इसलिये उनको (५) परिग्रहत्याग महाव्रत होता है। दिन में सावधानी पूर्वक

चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प उठे वह (१) ईर्यासमिति है; तथा जिसप्रकार चन्द्र से अमृत झरता है उसी-प्रकार मुनि के मुखचन्द्र से जगत का हित करनेवाले, सर्व अहित का नाश करनेवाले सुननेमें सुखकर, सर्व प्रकार की शंकाओं को दूर करनेवाले और मिथ्यात्व (विपरीतता या सन्देह) रूपी रोगका नाश करनेवाले ऐसे अमृतवचन निकलते हैं।—इसप्रकार समिति-रूप वोलने का विकल्प मुनि को उठता है (२) भाषा समिति है।

—उपरोक्त भावार्थ में आये हुए वाक्यों को वदलने से क्रमशः परिग्रहत्याग महाव्रत तथा ईर्यासमिति और भाषासमिति का लक्षण हो जायेगा।

प्रश्नः—सच्ची समिति किसे कहते हैं?

उत्तरः—पर जीवों की रक्षा के हेतु यत्नाचार प्रवृत्तिको अज्ञानी जीव समिति मानते हैं, किन्तु हिंसा के परिणामों से तो पापवन्ध होता है। यदि रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यवन्ध का कारण क्या सिद्ध होगा?

तथा मुनि एषणा समिति में दोष को टालते हैं; वहाँ रक्षा का प्रयोजन नहीं है, इसलिये रक्षा के हेतु ही समिति नहीं है। तो फिर समिति किसप्रकार होती है? मुनि को किंचित् राग होने पर गमनादि क्रियाएँ होती हैं, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्ति के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन सिद्ध नहीं करते। इसलिये उनसे स्वयं दया का पालन होता है;—इसप्रकार सच्ची समिति है। (* मोक्षमार्ग-प्रकाशक, (देहली) पृ० ३३५) ।२।

---

* ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान;
प्रतिष्ठापना जुतक्रिया, पाँचों समिति विधान।

एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति

छ्यालीस दोष विना सुकुल, श्रावकतनैं घर अशन को;
लैं तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन-पोषते तजि रसन को।
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;
निर्जंतु थान विलोकि तन-मल मूत्र श्लेष्म परिहरैं ॥३॥

एषणा समिति

आदान निक्षेपण

प्रतिष्ठापना
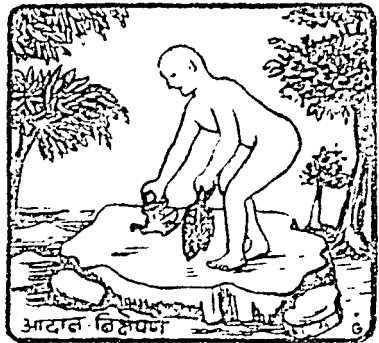
अन्वयार्थः—[वीतरागी मुनि] (सुकुल) उत्तम कुल वाले (श्रावकतनैं) श्रावक के घर और (रसन को) छहों रस अथवा

एक--दो रसों को (तजि) छोड़कर, (तन) शरीर को (नहिं पोपते) पुष्ट न करते हुए—मात्र (तप) तप की (वढ़ावन हेतु) वृद्धि करने के हेतु से [आहार के] (छयालीस) छियालीस (दोप विना) दोषों को दूर करके (अशन को) भोजन को (लैं) ग्रहण करते हैं*। (शुचि) पवित्रता के (उपकरण) साधन--कमण्डल को (ज्ञान) ज्ञान के (उपकरण) साधन—शास्त्र को तथा (संयम) संयम के (उपकरण) साधन पींछी को (लखिकैं) देखकर (गहैं) ग्रहण करते हैं [और] (लखिकैं) देखकर (धरैं) रखते हैं [और] (मूत्र) पेशाव (श्लेष्म) श्लेष्म (तन—मल) शरीर के मैल को (निर्जन्तु) जीवरहित (थान) स्थान (विलोक) देखकर (परिहरैं) त्यागते हैं।

भावार्थः—वीतरागी जैन मुनि—साधु उत्तम कुल वाले श्रावक के घर, आहार के छियालीस दोषों को टालकर तथा अमुक रसों का त्याग करके [अथवा स्वाद का राग न करके] शरीर को पुष्ट करने का अभिप्राय न रखकर, मात्र तप की वृद्धि करने के लिये आहार ग्रहण करते हैं; इसलिये उनको (३) एषणा समिति होती है। पवित्रता के साधन कमण्डल को, ज्ञान के साधन शास्त्र को और संयम के साधन पींछी को— जीवों की विराधना बचाने के हेतु—देखभाल कर रखते हैं तथा उठाते हैं; इसलिये उनको (४) आदान-निक्षेपण समिति होती है। मल-

---

* आहार के दोषों का विशेष वर्णन "अनगार धर्मामृत" तथा "मूलाचार" आदि शास्त्रों में देखें। उन दोषों को टालने के हेतु दिगम्बर साधुओं को कभी-कभी महीनों तक भोजन न मिले तथापि मुनि किंचित् खेद नहीं करते; अनासक्ति और निर्मोह इच्छारहित सहज होते हैं। [कायर मनुष्यों-अज्ञानियों को ऐसा मुनिव्रत कष्टदायक प्रतीत होता है—ज्ञानी को वह सुखमय लगता है।]

मूत्र-कफ आदि शरीर के मैल को जीवरहित स्थान देखकर त्यागते हैं, इसलिये उनको (५) व्युत्सर्ग अर्थात् प्रतिष्ठापन समिति होती है। ३।

मुनियों की तीन गुप्ति और पाँच इन्द्रियों पर विजय

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय, आतम ध्यावते;
तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।
रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने;
तिनमें न राग विरोध पंचेन्द्रिय-जयन पद पावने ॥४॥
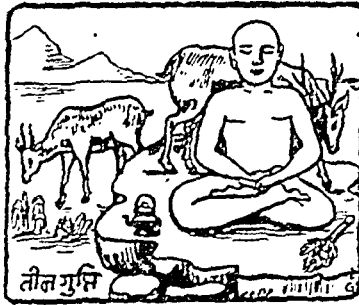
अन्वयार्थः—[वीतरागी मुनि] (मन वच काय) मन—वचन—काया का (सम्यक् प्रकार) भली भाँति—बराबर (निरोध) निरोध करके, जब (आतम) अपने आत्मा का (ध्यावते) ध्यान करते हैं; तब (तिन) उन मुनियों की (सुथिर) सुस्थिर-शांत (मुद्रा) मुद्रा (देखि) देखकर, उन्हें (उपल) पत्थर समझकर (मृगगण) हिरन अथवा चौपाये प्राणी के समूह (खाज) अपनी खाज-खुजली को (खुजावते) खुजाते हैं। [जो] (शुभ) प्रिय और (असुहावने)

अप्रिय [पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी] (रस) पाँच रस, (रूप) पाँच वर्ण, (गंध) दो गंध, (फरस) आठ प्रकार के स्पर्श (अरु) और (शब्द) शब्द—(तिनमें) उन सबमें (राग-विरोध) राग या द्वेष (न) मुनि को नहीं होते, [इसलिये वे मुनि] (पञ्चेन्द्रिय जयन) पाँच इन्द्रियों को जीतनेवाला अर्थात् जितेन्द्रिय (पद) पद प्राप्त करते हैं।

भावार्थः—इस गाथा में निश्चय गुप्ति का तथा भावलिंगी मुनि के अट्ठाईस मूलगुणों में पाँच इन्द्रियों की विजय के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

भावलिंगी मुनि जब उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणामित होकर निर्विकल्परूप से स्वरूप में गुप्त होते हैं—वह निश्चय गुप्ति है। उससमय मन-वचन-काया की क्रिया स्वयं रुक जाती है। उनकी शांत और अचल मुद्रा देखकर, उनके शरीर को पत्थर समझकर मृगों के *झुण्ड (पशु) खाज (खुजली) खुजाते हैं; तथापि वे मुनि अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं। उन भावलिंगी मुनियों को तीन गुप्तियाँ हैं।

प्रश्नः—गुप्ति किसे कहते हैं?

उत्तरः—मन-वचन-काय की बाह्य चेष्टा मिटाना चाहे, पाप का चिंतवन न करे, मौन धारण करे, तथा गमनादि न करे, उसे अज्ञानी जीव गुप्ति मानते हैं। उससमय मनमें तो भक्ति आदिरूप

---

* इस सम्बन्ध में सुकुमाल मुनि का दृष्टान्त :—जब वे ध्यान में लीन थे, उस समय एक सियालिनी और उसके दो बच्चे उनका आधा पैर खा गये थे, किन्तु वे अपने ध्यान से किंचित् चलायमान नहीं हुए। (संयोग से दुःख होता ही नहीं; शरीरादि में ममत्व करे तो उस ममत्व भाव से ही दुःख का अनुभव होता है—ऐसा समझना।)

अनेक प्रकार के शुभरागादि विकल्प उठते हैं; इसलिये प्रवृत्तिमें तो गुप्तिपना हो नहीं सकता। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आत्मा में लीनता द्वारा) वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काया की चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० २३५ ऊपर से)।

मुनि प्रिय (अनुकूल) पाँच इन्द्रियों के पाँच रस, पाँच रूप, दो गंध, आठ स्पर्श तथा शब्दरूप पाँच विषयों में राग नहीं करते और अप्रिय (प्रतिकूल) ऊपर कहे हुए पाँच विषयों में द्वेष नहीं करते।—इसप्रकार (५) पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं। ४।

मुनियों के छह आवश्यक और शेष सात मूलगुण

समता सम्हरैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेव को;
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को।
जिनके न न्हौन, न दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
भूमाँहि पिछली रयनि में कछु शयन एकाशन करन ॥५॥
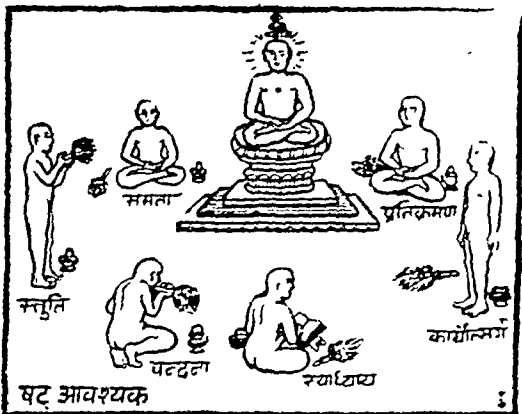
अन्वयार्थः—[वीतरागी मुनि] (नित) सदा (समता) सामायिक (सम्हारैं) सम्हालकर करते हैं, (थुति) स्तुति (उचारैं) बोलते हैं, (जिनदेव को) जिनेन्द्र भगवान की (वन्दना) वन्दना करते हैं। (श्रुतिरति) स्वाध्याय में प्रेम (करैं) करते हैं। (प्रतिक्रम) प्रतिक्रमण (करैं) करते हैं। (तन) शरीर की (अहमेव को) ममता को (तजैं) छोड़ते हैं। (जिनको) जिन मुनियों को (न्हौंन) स्नान और (दंतधोवन) दाँतों को स्वच्छ करना (न) नहीं होता (अंबर आवरन) शरीर ढँकने के लिये वस्त्र (लेश) किंचित् भी उनके (न) नहीं होता और (पिछली रयनि में) रात्रि के पिछले भाग में (भूमाहिं) धरती पर (एकासन) एक करवट (कछु) कुछ समय तक (शयन) शयन (करन) करते हैं।

भावार्थः-वीतरागी मुनि सदा (१) सामायिक, (२) सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की स्तुति, (३) जिनेन्द्रभगवान की वन्दना, (४) स्वाध्याय, (५) प्रतिक्रमण तथा (६) कायोत्सर्ग (शरीर के प्रति ममता का त्याग) करते हैं; इसलिये उनको छह आवश्यक होते हैं; और वे मुनि कभी भी (१) स्नान नहीं करते, (२) दाँतों की सफाई नहीं करते, (३) शरीर को ढँकने के लिये थोड़ा-सा भी वस्त्र नहीं रखते, तथा (४) रात्रि के पिछले भाग में एक करवट से भूमि पर कुछ समय शयन करते हैं। ५।

मुनियों के शेष गुण तथा राग-द्वेष का अभाव

इक बार दिन में लें अहार, खड़े अलप निज-पान में
कचलोंच करत न डरत परिषह सों, लगे निज ध्यान में।
अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन थुति करन;
अर्घावतारन असि-प्रहारन में सदा समता धरन ॥६॥
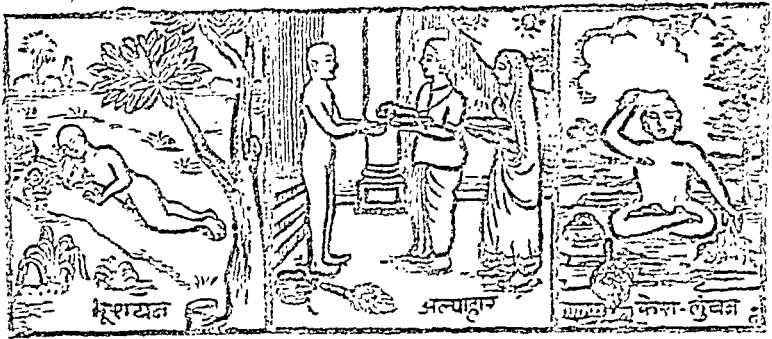
अन्वयार्थः—[वे वीतरागी मुनि] (दिन में) दिन में (इक वार) एकवार (खड़े) खड़े रहकर और (निज-पान में) अपने हाथ में रखकर (अल्प) थोड़ा-सा (अहार) आहार (लैं) लेते हैं; (कचलोंच) केशलोंच (करत) करते हैं, (निज ध्यान में) अपने आत्मा के ध्यान में (लगे) तत्पर होकर (परिषह सौं) वाईस प्रकार के परिषहों से (न डरत) नहीं डरते; और (अरि मित्र) शत्रु या मित्र, (महल

मसान) महल या स्मशान, (कंचन काँच) सोना या काँच, (निन्दन थुति करन) निन्दा या स्तुति करनेवाले, (अर्घावतारन) पूजा करनेवाले और (असि-प्रहारन) तलवार से प्रहार करनेवाले—इन सर्व में (सदा) सदा (समता) समताभाव (धरन) धारण करते हैं।

भावार्थः—[वे वीतरागी मुनि] (५) दिन में एकबार (६) खडे-खडे अपने हाथ में रखकर थोडा आहार लेते हैं; (७) केश का लोच करते हैं; आत्मध्यान में मग्न रहकर परिषहों से नहीं डरते अर्थात बाईस प्रकार के परिषहों पर विजय प्राप्त करते हैं, तथा शत्रु-मित्र, महल-स्मशान, सुवर्ण-काँच, निन्दक और स्तुति करनेवाले, पूजा-भक्ति करनेवाले या तलवार आदि से प्रहार करनेवाले इन सबमें समभाव (राग-द्वेष का अभाव) रखते हैं अर्थात् किसी पर राग-द्वेष नहीं करते।

प्रश्नः--सच्चा परिषहजय किसे कहते हैं?

उत्तरः--क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस-मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन प्रज्ञा और अज्ञान--यह बाईस प्रकार के परिषह हैं। भावलिंगी मुनि को प्रति समय तीन कषाय का (अन्नतानुबन्धी आदि का) अभाव होने से स्वरूप में सावधानी के कारण जितने अंश में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, उतने अंश में उनको निरन्तर परिषहजय होता है। तथा क्षुधादिक लगने पर उसके नाश का उपाय न करना उसे (अज्ञानी जीव) परिषह सहन करने हैं। उपाय तो नहीं किया, किन्तु अंतरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दुःखी हुआ तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ.—किन्तु वह तो दुःख-सुखरूप परिणाम हैं और वहीं आर्त-रौद्र-ध्यान हैः ऐसे भावों से संवर किसप्रकार हो सकता है?

प्रश्नः—तो फिर परिषहजय किसप्रकार होता है?

उत्तरः—तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो; दुःख के कारण मिलने से दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूप से उसका ज्ञाता ही रहे-वही सच्चा परिषहजय है । (मोक्षमार्ग प्रकाशकः पृ०-२३६) ।६।

मुनियों के तप, धर्म, विहार तथा स्वरूपाचरण चरित्र

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा;
मुनि साथ में वा एक विचरैं, चहैं नहिं भवसुख कदा ।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब;
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब ।।७।।

अन्वयार्थः—[वे वीतरागी मुनि सदा] (द्वादश) बारह प्रकार के (तप तपें) तप करते हैं; (दश) दस प्रकार के (वृष) धर्म को (धरैं) धारण करते हैं और (रतनत्रय) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र का (सदा) सदा (सेवैं) सेवन करते हैं। (मुनि साथ में) मुनियों के संघ में (वा) अथवा (एक) अकेले (विचरैं) विचरते हैं और (कदा) किसी भी समय (भवसुख) सांसारिक सुखों की (नहिं चहैं) इच्छा नहीं करते । (यों) इसप्रकार (सकल संयम चरित) सकल संयम चारित्र (है) है; (अब) अब (स्वरूपाचरन) स्वरूपाचरण चारित्र सुनो । (जिस) जो स्वरूपाचरण चारित्र [स्वरूप में रमणतारूप चारित्र] (होत) प्रगट होने से (अपनी) अपने आत्मा की (निधि) ज्ञानादिक सम्पत्ति (प्रगटै) प्रगट होती है, तथा (परकी) परवस्तुओं के ओर की (सब) सर्व प्रकार की (प्रवृत्ति) प्रवृत्ति (मिटै) मिट जाती है ।

भावार्थः—(१) भावलिंगी मुनि का शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना सो तप है। तथा हठरहित बारह प्रकार के तप के शुभ विकल्प होते हैं वह व्यवहार तप है। वीतरागभावरूप उत्तमक्षमादि परिणाम सो धर्म है। भावलिंगी मुनि को उपरोक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है; वे मुनियों के संघ में अथवा अकेले विहार करते हैं; किसी भी समय सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करते।—इसप्रकार सकलचारित्र का स्वरूप कहा।

(२) अज्ञानी जीव अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं; किन्तु मात्र बाह्य तप करने से तो निर्जरा होती नहीं है। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है, इसलिये उपचार से तप को भी निर्जरा का कारण कहा है। यदि बाह्य दुःख सहन करना ही निर्जरा का कारण हो, तब तो पशु आदि भी क्षुधा तृषा सहन करते हैं।

प्रश्नः—वे तो पराधीनतापूर्वक सहन करते हैं। जो स्वाधीन रूप से धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादि तप करे उसे तो निर्जरा होती है न?

उत्तरः—धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि करे तो वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ या शुद्धरूप-जिसप्रकार जीव परिणमे—परिणमित होगा; उपवास के प्रमाण में यदि निर्जरा हो तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि सिद्ध हो, किन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादि करने से भी निर्जरा कैसे सम्भव हो सकती? यहाँ यदि ऐसा कहोगे कि—जैसा अशुभ, शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो तदनुसार बन्ध-निर्जरा है, तो उपवासादि तप निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा!—वहाँ अशुभ और शुभ परिणाम तो बन्ध के कारण सिद्ध हुए तथा शुद्ध परिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो, अनशनादि को तप की संज्ञा किस प्रकार कही गई?

उत्तरः—उन्हें बाह्य तप कहा है; बाह्य का अर्थ यह है कि—बाह्य में दूसरों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है; किन्तु स्वयं तो जैसा अंतरंग परिणाम होंगे वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

(३) तथा अंतरंग तपों में भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप क्रिया में बाह्य प्रवर्तन है वह तो बाह्य तप जैसा ही जानना; जैसी बाह्य क्रिया है उसीप्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इसलिये प्रायश्चित्त आदि बाह्य साधन भी अन्तरंग तप नहीं है।

परन्तु ऐसा बाह्य परिवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो उसका नाम अन्तरंग तप जानना; और वहाँ तो निर्जरा ही है, वहाँ बन्ध नहीं होता; तथा उस शुद्धताका अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई उससे तो निर्जरा है, तथा जितना शुभ-भाव है उससे बन्ध है। इसप्रकार अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा, दी गई है—ऐसा जानना और इसीलिये उसे व्यवहारतप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है।

अधिक क्या कहें ? इतना समझ लेना कि—निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद, निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं; उन्हें व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता, इसलिये उसे निर्जरा का—तप का—भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३३ से ३८ ऊपर से)

प्रश्नः—क्रोधादि का त्याग और उत्तम क्षमादि धर्म कब होता है ?

उत्तरः—बन्धादि के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से (अज्ञानी जीव) क्रोधादिक नहीं करता, किन्तु वहाँ क्रोध—मानादि करने का अभिप्राय तो गया नहीं है। जिसप्रकार कोई राजादिक के भय से अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता। उसी-

प्रकार यह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है। तो फिर किसप्रकार त्यागी होता है ?—कि पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं, किन्तु जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो तब स्वयं क्रोधादिक की उत्पत्ति नहीं होती और तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३५-३६)

(४) अब, आठवीं गाथा में स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन करेंगे उसे सुनो-कि जिसके प्रगट होनेसे आत्मा की अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ के ओर की सर्वप्रकार की प्रवृत्ति दूर होती है—वह स्वरूपाचरणचारित्र है।७।

स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;
वरणादि अरु रागादितैं निज भाव को न्यारा किया।
निजमांहिं निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो;
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यो ॥८॥

अन्वयार्थः—(जिन) जो वीतरागी मुनिराज (परम) अत्यन्त (पैनी) तीक्ष्ण (सुबुधि) सम्यग्ज्ञान अर्थात् भेदविज्ञानरूपी (छैनी)

*छैनी (डारि) पटककर (अन्तर) अन्तरंग में (भेदिया) भेद करके (निजभाव को) आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (वरणादि) वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्शरूप द्रव्यकर्म से (अरु) और (रागादितैं) राग-द्वेषादिरूप भावकर्म से (न्यारा किया) भिन्न करके (निजमाहिं) अपने आत्मा में (निज के हेतु) अपने लिये (निजकर) अपने द्वारा (आपको) आत्मा को (आपै) स्वयं अपने से (गह्यो) ग्रहण करते हैं तब (गुण) गुण, (गुणी) गुणी, (ज्ञाता) ज्ञाता, (ज्ञेय) ज्ञान का विषय और (ज्ञान मँझार) ज्ञान में आत्मा में (कछु भेद न रह्यो) किंचित्मात्र भेद (विकल्प) नहीं रहता ।

भावार्थः—जब स्वरूपाचरणचारित्र का आचरण करते समय वीतरागी मुनि—जिसप्रकार कोई पुरुष तीक्ष्ण छैनी द्वारा पत्थर आदि के दो भाग पृथक्-पृथक् कर देता है, उसीप्रकार—अपने अन्तरंग में भेदविज्ञानरूपी छैनी द्वारा अपने आत्मा के स्वरूप को द्रव्यकर्म से तथा शरीरादिक नोकर्म से और रागद्वेषादि-रूप भाव कर्मों से भिन्न करके अपने आत्मा में, आत्मा के लिये, आत्मा को स्वयं जानता है तब उसके स्वानुभव में गुण, गुणी तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ऐसे कोई भेद नहीं रहते ।८।

स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प, वच भेद न जहाँ;
चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ ।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा;
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ये, तीनधा एकै लसा ।।९।।

* जिसप्रकार छैनी लोहे को काटकर दो टुकड़े कर देती है, उसीप्रकार शुद्धोपयोग कर्मों को काटता है और आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देता है ।
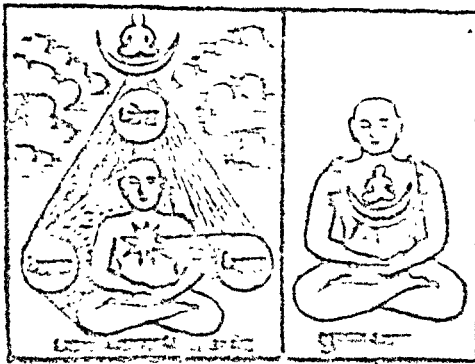
अन्वयार्थः—(जहँ) जिस स्वरूपाचरणचारित्र में (ध्यान) ध्यान, (ध्याता) ध्याता और (ध्येय को) ध्येय—इन तीन के (विकल्प) भेद (न) नहीं होते, तथा (जहाँ) जहाँ (वच) वचन का (भेद न) विकल्प नहीं होता, (तहाँ) वहाँ तो (चिद्भाव) आत्मा का स्वभाव ही (कर्म) कर्म, (चिदेश) आत्मा ही (करता) कर्ता, (चेतना) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही (किरिया) क्रिया होता है—अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया—यह तीनों (अभिन्न) भेदरहित—एक, (अखिन्न) अखंड [बाधारहित] हो जाते हैं और (शुध उपयोग की) शुद्ध उपयोग की (निश्चल) निश्चल (दशा) पर्याय, (प्रगटी) प्रगट होती है; (जहाँ) जिसमें (दृग-ज्ञान-व्रत) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (ये तीनधा) यह तीनों (एकै) एकरूप—अभेदरूप से (लसा) शोभायमान होते हैं।

भावार्थः—वीतरागी मुनिराज स्वरूपाचरण के समय जब आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं तब ध्यान, ध्याता और ध्येय—ऐसे भेद नहीं रहते; वचन का विकल्प नहीं होता; वहाँ (आत्म-ध्यान में) तो आत्मा ही *कर्म, आत्मा ही *कर्ता और आत्मा

* कर्म=कर्ता द्वारा हुआ कार्य; कर्ता=स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता; क्रिया=कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति.

का भाव वह क्रिया होती है, अर्थात् कर्ता-कर्म और क्रिया—वे तीनों बिलकुल अखण्ड, अभिन्न हो जाते हैं और शुद्धोपयोग की अचल दशा प्रगट होती है, जिसमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र एक साथ—एकरूप होकर प्रकाशमान होते हैं।९।

स्वरूपाचरणचारित्र का लक्षण और निर्विकल्प ध्यान

परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखै;
दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं;
चित्-पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितैं॥१०॥
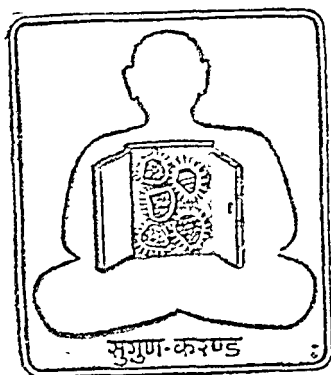
अन्वयार्थः—[उस स्वरूपाचरण चारित्र के समय मुनियों के] (अनुभव में) आत्मानुभव में (परमाण) प्रमाण, (नय) नय और (निक्षेप को) निक्षेप का विकल्प (उद्योत) प्रगट (दिखै) दिखाई नहीं देता; [परन्तु ऐसा विचार होता है कि-] (मैं) मैं (सदा) सदा (दृग-ज्ञान-सुख-बलमय) अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञान-अनन्तसुख और अनन्तवीर्यमय हूँ। (मो विखै) मेरे स्वरूप में (आन) अन्य राग-द्वेषादि (भाव) भाव (नहिं) नहीं हैं, (मैं) मैं (साध्य) साध्य, (साधक) साधक तथा (कर्म) कर्म (अरु) और (तसु) उसके

(फलनितैं) फलों के (अबाधक) विकल्परहित (चित्पिंड) ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप (चंड) निर्मल तथा ऐश्वर्यवान (अखंड) अखंड (सुगुण करंड) सुगुणों का भंडार (पुनि) और (कलनितैं) अशुद्धता से (च्युत) रहित हूँ।

भावार्थः—इस स्वरूपाचरण चारित्र के समय मुनियों के आत्मानुभव में प्रमाण, नय और निक्षेप का विकल्प तो नहीं उठता किन्तु गुण-गुणी का भेद भी नहीं होता—ऐसा ध्यान होता है। प्रथम ऐसा ध्यान होता है कि—मैं अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञान-अनन्त सुख और अनन्तवीर्यरूप हूँ; मुझमें कोई रागादिक भाव नहीं है; मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ और कर्म तथा कर्मफल से पृथक् हूँ। मैं ज्ञान-दर्शन-चेतना स्वरूप निर्मल ऐश्वर्यवान तथा अखंड, सहजशुद्ध गुणों का भण्डार और पुण्य-पाप से रहित हूं।

तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के विकल्पोंसे रहित-निर्विकल्प आत्मस्थिरताको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।१०।

स्वरूपाचरणचारित्र और अरिहन्त दशा

यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो;
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र कैं नाहीं कह्यो।
तब ही शुकल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो;
सब लख्यो केवलज्ञानकरि, भविलोक को शिवमग कह्यो ॥११॥
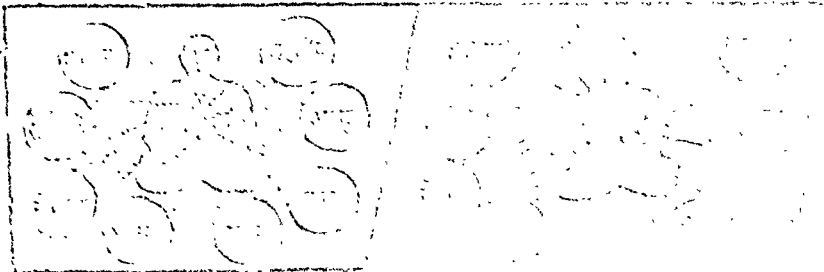
अन्वयार्थः—[स्वरूपाचरणचारित्र में] (यों) इसप्रकार (चिन्त्य) चिंतवन करके (निज) आत्मस्वरूप में (थिर भये) लीन होने पर (तिन) उन मुनियों को (जो) जो (अकथ) कहा न जा सके ऐसा—वचन से पार—(आनन्द) आनन्द (लह्यो) होता है (सो) वह आनन्द (इन्द्र) इन्द्र को, (नाग) नागेन्द्र को, (नरेन्द्र) चक्रवर्ती को (वा अहमिन्द्र को) या अहमिन्द्र को (नाहीं कह्यो) कहने में नहीं आया—नहीं होता। (तब ही) वह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात् जब (शुकल ध्यानाग्नि करि) शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा (चउघाति विधि कानन) चार घातिकर्मोंरूपी वन (दह्यो) जल जाता है और (केवलज्ञानकरि) केवलज्ञान से (सब) तीनकाल और तीनलोक में होनेवाले समस्त पदार्थों के सर्व गुण तथा पर्यायों को (लख्यो) प्रत्यक्ष जान लेते हैं, तब (भविलोक को) भव्य जीवों को (शिवमग) मोक्षमार्ग (कह्यो) बतलाते हैं।

भावार्थः—इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनिराज जब उपरोक्तानुसार चिंतवन-विचार- करके आत्मा में लीन हो जाते हैं तब उन्हें जो आनन्द होता है वैसा आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) या अहमिन्द्र (कल्पातीत देव) को भी नहीं होता। यह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात् स्वद्रव्य में उग्र एकाग्रता से—शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा चार *घातिकर्मों का नाश होता है और अरिहन्त दशा तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसमें तीन काल और तीनलोक के समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और तब भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।११।

सिद्धदशा (सिद्ध स्वरूप) का वर्णन

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमाहिं अष्टम भू वसैं;
वसु कर्म विनसै सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं।
संसार खार अपार पारावार तरि तीरहिं गये;
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये॥१२॥

---
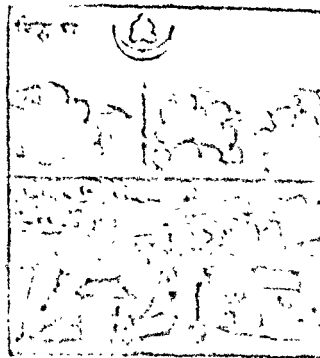
* घातिकर्म दो प्रकार के हैं—द्रव्य-घातिकर्म और भाव-घातिकर्म। उनमें शुक्लध्यान द्वारा शुद्ध दशा प्रगट होने पर भाव-घातिकर्मरूप अशुद्धपर्यायें उत्पन्न नहीं होतीं वह भाव-घातिकर्म का नाश है, तथा उसीसमय द्रव्य-घातिकर्म का स्वयं अभाव होता है वह द्रव्यघातिकर्म का नाश है।

अन्वयार्थः—(पुनि) केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् (शेष) शेष चार (अघाति विधि) अघातिया कर्मों का (घाति) नाश करके (छिनमाहिं) कुछ ही समय में (अष्टम भू आठवीं पृथ्वी—ईषत् प्राग्भार–मोक्ष क्षेत्र में (वसैं) निवास करते हैं; वहाँ उनको (वसु कर्म) आठ कर्मों का (विनसैं) नाश हो जाने से (सम्यक्त्व आदिक) सम्यक्त्वादि (सब) समस्त (वसु सुगुण) आठ मुख्य गुण (लसैं) शोभायमान होते हैं। [ऐसे सिद्ध होनेवाले मुक्तात्मा] (संसार खार अपार पारावार) संसाररूपी खारे तथा अगाध समुद्र को (तरि) पार करके (तीरहिं) किनारे पर (गये) पहुँच जाते हैं और (अविकार) विकाररहित, (अकल) शरीररहित, (अरूप) रूपरहित, (शुचि) शुद्ध-निर्दोष (चिद्रूप) दर्शन-ज्ञान-चेतना स्वरूप तथा (अविनाशी) नित्य-स्थायी (भये) होते हैं।

भावार्थः—अरिहन्त दशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उस जीवको भी जिन गुणों की पर्यायों में अशुद्धता होती है उनका क्रमशः अभाव होकर वह जीव पूर्ण शुद्धदशा को प्रगट करता है और उस समय असिद्धत्व नामक अपने उदयभाव का नाश होता है तथा चार अघाति कर्मों का भी स्वयं सर्वथा अभाव हो जाता है। सिद्धदशा में सम्यक्त्वादि आठ गुण (गुणों की निर्मलपर्यायें) प्रगट होते हैं। मुख्य आठ गुण व्यवहार से कहे हैं; निश्चयसे तो अनन्त गुण (सर्व गुणों की पर्यायें) शुद्ध होते हैं और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के कारण एक समयमात्र में लोकाग्र में पहुँचकर वहीं स्थिर रह जाते हैं। ऐसे जीव संसाररूपी दुःखदायी तथा अगाध समुद्र से पार हो गये हैं और वही जीव निर्विकारी, अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्ध चैतन्यरूप तथा अविनाशी होकर सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं।१२।

मोक्षदशा का वर्णन

निजमाहिं लोक अलोक गुण, परजाय प्रतिविम्बित थये;
रहि हैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।
धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया;
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया॥१३॥
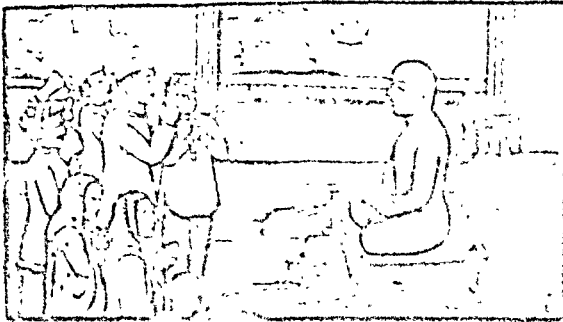
अन्वयार्थः—(निजमाहिं) उन सिद्धभगवान के आत्मा में (लोक-अलोक) लोक तथा अलोक के (गुण परजाय) गुण और पर्यायें (प्रतिविम्बित थये) झलकने लगते हैं अर्थात् ज्ञात होने लगते हैं; वे (यथा) जिसप्रकार (शिव) मोक्षरूप से (परिणये) परिणमित हुए हैं (तथा) उसीप्रकार (अनन्तानन्त काल) अनन्त-अनन्त काल तक (रहि हैं)रहेंगे।

जिन (जीव) जीवों ने (नरभव पाय) पुरुष पर्याय प्राप्त करके (यह) यह मुनिपद आदि की प्राप्तिरूप (कारज) कार्य (किया) किया है, वे जीव (धनि धन्य हैं) महान धन्यवाद के पात्र हैं और (तिनही) उन्हीं जीवों ने (अनादि) अनादिकाल से चले आ रहे

(पंच प्रकार) पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप (भ्रमण) संसार–परिभ्रमण को (तजि) छोड़कर (वर) उत्तम (सुख) सुख (लिया) प्राप्त किया है।

भावार्थः--सिद्ध भगवान के आत्मा में केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोक (समस्त पदार्थ) अपने–अपने गुण और तीनों काल की पर्यायों सहित एक साथ, स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्तरूप से–सर्व प्रकार से स्पष्ट ज्ञात होते हैं; (किन्तु ज्ञान में दर्पण की भाँति छाया और आकृति नहीं पड़ती) वे पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं तथा वह दशा वहाँ विद्यमान अन्य सिद्ध –मुक्त जीवों की भाँति *अनन्तानन्त काल तक रहेगी; अर्थात् अपरिमित काल व्यतीत हो जाये तथापि उनकी अखण्ड ज्ञापकता–शान्ति आदि में किंचित बाधा नहीं आती। यह पुरुषपर्याय प्राप्त करके जिन जीवों ने यह शुद्धचैतन्य की प्राप्तिरूप कार्य किया है वे जीव महान धन्यवाद (प्रशंसा) के पात्र हैं और उन्होंने अनादिकाल से चले आ रहे पंच परावर्तनरूप संसार के परिभ्रमण का त्याग करके उत्तम सुख—मोक्षसुख प्राप्त किया है।१३।

रत्नत्रय का फल और आत्महित में प्रवृत्ति का उपदेश

मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं,
अरु धरेंगे ते शिव लहैं तिन, सुयश-जल जग-मल हरैं।
इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ;
जबलों न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ।।१४।।

---

* जिसप्रकार बीज को यदि जला दिया जाये तो वह उगता ही नहीं; उसीप्रकार जिन्होंने संसार के कारणों का सर्वथा नाश किया वे पुनः अवतार–जन्म धारण नहीं करते। अथवा जिसप्रकार मक्खनसे घी हो जाने के पश्चात् पुनः मक्खन नहीं बन सकता, उसीप्रकार आत्मा की सम्पूर्ण पवित्रतारूप अशरीरी मोक्षदशा (परमात्मापद) प्रगट करने के पश्चात उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती—संसार में पुनः आगमन नहीं होता।

अन्वयार्थः—(बड़भागि) जो महा पुरुषार्थी जीव (यों) इस-प्रकार (मुख्योपचार) निश्चय और व्यवहार (दु भेद) ऐसे दो प्रकार के (रत्नत्रय) रत्नत्रय को (धरैं अरु धरेंगे) धारण करते हैं और करेंगे (ते) वे (शिव) मोक्ष (लहैं) प्राप्त करते हैं और (तिन) उन जीवों का (सुयश- जल) सुकीर्तिरूपी जल (जग-मल) संसार-रूपी मैल का (हरें) नाश करता है (और करेंगे) ।—(इमि) ऐसा (जानि) जानकर (आलस) प्रमाद [स्वरूप में असावधानी] (हानि) छोडकर (साहस–पुरुपार्थ (ठानि) करके (यह) यह (सिख) शिक्षा-उपदेश (आदरौ) ग्रहण करो कि (जबलौं) जबतक (रोग जरा) रोग या वृद्धावस्था (न गहै) न आये (तब लौं) तबतक (झटिति) शीघ्र (निज हित) आत्मा का हित (करौ) कर लेना चाहिये।

भावार्थः—जो सत्पुरुषार्थी जीव सर्वज्ञ वीतराग कथित निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानकर, उपादेय तथा हेयतत्त्वों का स्वरूप समझकर अपने शुद्ध उपादान-आश्रित निश्चयरत्नत्रय को (–शुद्धात्माश्रित वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग को) धारण करते हैं तथा करेंगे वे जीव पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशा को पाते हैं और प्राप्त होंगे। [गुणस्थान के प्रमाण में शुभराग आता है पर व्यवहार-रत्नत्रयका स्वरूप जानना तथा उसे उपादेय न मानना उसका नाम व्यवहार-रत्नत्रय का धारण करना कहलाता है]। जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और होंगे उनका सुकीर्ति रूपी जल ऐसा है!—कि जो सिद्ध परमात्मा का यथार्थस्वरूप समझकर स्वोन्मुख होनेवाले भव्य जीव हैं उनके संसार (–मलिनभाव) रूपी मलको हरने का निमित्त है।—ऐसा जानकर, प्रमाद को छोडकर साहस अर्थात् विमुख न हो ऐसा पुरुषार्थ रखकर यह उपदेश अङ्गीकार करो। जबतक रोग या वृद्धावस्था ने शरीर को नहीं घेरा है तबतक (वर्तमानमें ही) शीघ्र आत्मा का हित कर लेना चाहिये। १४।

अन्तिम सीख

यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये;
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद वेइये।
कहा रच्यो पर पद में, न तेरो पद यहै, क्यों दुख सहै;
अब "दौल"! होउ सुखी स्व पद-रचि, दाव मत चूकौ यहै ॥१५॥

अन्वयार्थः—(यह) यह (राग-आग) रागरूपी अग्नि (सदा) अनादिकाल से निरन्तर जीव को (दहै) जला रही है, (तातैं) इसलिये (समामृत) समतारूपी अमृत का (सेइये) सेवन करना चाहिये। (विषय-कषाय) विषय-कषाय का (चिर भजे) अनादिकाल से सेवन किया है (अब तो) अब तो (त्याग) उसका त्याग करके (निजपद) आत्मस्वरूप को (वेइये) जानना चाहिये—प्राप्त करना चाहिये। (पर पद में) परपदार्थों में—परभावों में (कहा) क्यों (रच्यो) आसक्त-सन्तुष्ट हो रहा है? (यहै) यह (पद) पद (तेरो) तेरा (न) नहीं है। तू (दुख) दुःख (क्यों) किसलिये (सहै) सहन करता है? (दौल!) हे दौलतराम! (अब) अब (स्व-पद)

अपने आत्मपद-सिद्धपद—में (रचित) लगकर (सुखी) सुखी (होउ) होओ ! (यहै) यह (दाव) अवसर (मत चूकौ) न गँवाओ !

भावार्थः—यह राग (-मोह, अज्ञान) रूपी अग्नि अनादिकाल से निरन्तर संसारी जीवों को जला रही है—दुःखी कर रही है, इसलिये जीवों को निश्चय रत्नत्रयमय समतारूपी अमृत का पान करना चाहिये जिससे राग-द्वेष-मोह (अज्ञान) का नाश हो। विषयकषायों का सेवन तू उलटा पुरुषार्थ द्वारा अनादिकाल से कर रहा है; अब उसका त्याग करके आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिये। तू दुःख किस लिये सहन करता है? तेरा वास्तविक स्वरूप अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख और अनन्तवीर्य है उसमें लीन होना चाहिये। ऐसा करने से ही सच्चा सुख-मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिये हे दौलतराम! हे जीव! अब आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर! आत्मस्वरूप को पहिचान! यह उत्तम अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता, इसलिये इसे न गँवा। सांसारिक मोह का त्याग करके मोक्षप्राप्ति का उपाय कर!

यहाँ विशेष यह समझना कि—जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी अग्नि तथा रागद्वेषरूप अपने अपराध से ही दुःखी हो रहा है, इसलिये अपने यथार्थ पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकता है।-ऐसा नियम होने से जड़कर्म के उदय से या किसी परके कारण दुःखी हो रहा है, अथवा परके द्वारा जीव को लाभ-हानि होते हैं ऐसा मानना उचित नहीं है। १५।

ग्रन्थ-रचना का काल और उसमें आधार

इक नव वसु इक वर्ष की तीज शुक्ल वैशाख।
कर्यो तत्त्व-उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख।
लघु-धी तथा प्रमाद तैं शब्द, अर्थ की भूल।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावो भव-कूल ॥१६॥

भावार्थः—पण्डित बुधजनकृत *छहढाला के कथन का आधार लेकर मैंने (दौलतराम ने) विक्रम संवत् १८९१, वैशाख शुक्ला ३ (अक्षयतृतीया) के दिन इस छहढाला ग्रन्थ की रचना की है। मेरी अल्पबुद्धि तथा प्रमादवश उसमें कहीं शब्द की या अर्थ की भूल रह गई हो तो बुद्धिमान उसे सुधारकर पढ़ें, ताकि जीव संसार समुद्र को पार करने में शक्तिमान हो।

छठवीं ढाल का सारांश

जिस चारित्र के होने से समस्त परपदार्थों से वृत्ति हट जाती है, वर्णादि तथा रागादि से चैतन्यभाव को पृथक् कर लिया जाता है, अपने आत्मा में आत्मा के लिये, आत्मा द्वारा, अपने आत्माका ही अनुभव होने लगता है; वहाँ नय, प्रमाण, निक्षेप, गुण-गुणी, ज्ञानज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय, कर्ता-कर्म और क्रिया आदि भेदों का किंचित् विकल्प नहीं रहता; शुद्ध उपयोगरूप अभेद रत्नत्रय द्वारा शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव होने लगता है उसे स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं; यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर मुनिदशा में अधिक उच्च होता है। तत्पश्चात् शुक्लध्यान द्वारा चार घाति कर्म का नाश होने पर वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करके १८ दोष रहित श्रीअरिहन्तपद प्राप्त करता है; फिर शेष चार अघातिकर्मों का भी नाश करके क्षण-मात्र में मोक्ष प्राप्त करके सदा के लिये विदा हो जाता है तब उस आत्मामें अनन्तकाल तक अनन्त चतुष्टय का (अनन्तज्ञान-दर्शन-

---

* इस ग्रन्थ में छह प्रकार के छन्द और छह प्रकरण हैं इसलिये, तथा जिसप्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार को रोकनेवाली ढाल होती है, उसीप्रकार जीव को अहितकारी शत्रु—मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों को तथा अज्ञानांधकारको रोकने के लिये ढाल के समान यह छह प्रकरण हैं; इसलिये इस ग्रन्थ का नाम छहढाला रखा गया है।

सुख-वीर्य का) एकसा अनुभव होता रहता है; फिर उसे पंच-परावर्तनरूप संसार में नहीं भटकना पडता; कभी अवतार धारण नहीं करता; सदैव अक्षय अनन्त सुख का अनुभव करता है; अखण्डित ज्ञान-आनन्दरूप अनन्तगुणों में निश्चल रहता है। उसे मोक्ष स्वरूप कहते हैं।

जो जीव मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस रत्नत्रय को धारण करते हैं और करेंगे उन्हें अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। प्रत्येक संसारी जीव मिथ्यात्व, कषाय और विषयों का सेवन तो अनादि-काल से करता आया है किन्तु उससे उसे किंचित् शान्ति प्राप्त नहीं हुई। शान्ति का एकमात्र कारण तो मोक्षमार्ग है; उसमें उस जीव ने कभी तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं की; इसलिये अब भी यदि शान्ति की (आत्महित की) इच्छा हो तो आलस्य को छोडकर, (आत्मा का) कर्तव्य समझकर रोग और वृद्धावस्थादि आने से पूर्व ही मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये; क्योंकि यह पुरुष-पर्याय, सत्समागम आदि सुयोग बारम्बार प्राप्त नहीं होते; इसलिये उन्हें पाकर व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये—आत्महित साध लेना चाहिये।

छठवीं ढालका भेद संग्रह

अंतरंग तप के नाम:—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

उपयोग:—शुध उपयोग, शुभ उपयोग, और अशुभ उपयोग—ऐसे तीन उपयोग हैं। यह चारित्रगुण की अवस्थाएँ हैं। (जानना-देखना वह ज्ञान-दर्शन गुण का उपयोग है-यह बात यहाँ नहीं है।)

छियालीस दोषः—दाता के आश्रित सोलह उद्गम दोष, पात्र के आश्रित सोलह उत्पादन दोष तथा आहार सम्बन्धी दस और भोजन क्रिया सम्बन्धी चार—ऐसे कुल छियालीस दोष हैं।

तीन रत्नः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रत्नत्रय।

तेरह प्रकारका चारित्रः—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति।

धर्मः—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचिन्य और ब्रह्मचर्य—ऐसे दस प्रकार हैं। [दसों धर्मों को उत्तम संज्ञा है, इसलिये निश्चयसम्यग्दर्शनपूर्वक वीतराग भावनाके ही वे दस प्रकार हैं।]

मुनिकी क्रियाः—(मुनि के गुण):–मूल गुण २८ हैं।

रत्नत्रयः—निश्चय और व्यवहार अथवा मुख्य और उपचार—ऐसे दो प्रकार हैं।

सिद्ध परमात्मा के गुणः—सर्व गुणों में सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट होने पर सर्व प्रकार से अशुद्ध पर्यायों का नाश होने से, ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का स्वयं सर्वथा नाश हो जाता है और गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुणों की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं; जैसे कि—अनन्तदर्शन–ज्ञान-सम्यक्त्व-सुख; अनन्तवीर्य, अटल अवगाहना, अमूर्तिक (सूक्ष्मत्व) और अगुरुलघुत्व।—यह आठ मुख्य गुण व्यवहार से कहे हैं; निश्चयसे तो प्रत्येक सिद्धभगवन्त के अनन्त गुण समझना चाहिये।

शीलः—अचेतन स्त्रीः—तीन [कठोरस्पर्श, कोमलस्पर्श, चित्रपट] प्रकार की, उसके साथ तीन करण [करना, कराना और अनुमोदन करना] से दो [मन, वचन] योग द्वारा पाँच इन्द्रियों [कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श] से, चार संज्ञा [आहार, भय, मैथुन, परिग्रह] सहित द्रव्य से और भाव से सेवन ३×३×२×५×४×२=७२० ऐसे ७२० भेद हुए।

चेतन स्त्रीः—[देवी, मनुष्य, तिर्यंच] तीन प्रकार की, उनके साथ तीन करण [करना, कराना और अनुमोदन करना।] से तीन [मन, वचन, कायारूप] योग द्वारा, पाँच [कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शरूप] इन्द्रियों से चार [आहार, भय, मैथुन, परिग्रह] संज्ञा सहित द्रव्य से और भाव से, सोलह [अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय और संज्वलन—इन चार प्रकार से क्रोध, मान, माया, लोभ—ऐसे प्रत्येक] प्रकार से सेवन ३×३×५×४×२×१६=१७२८० भेद हुए।

प्रथम ७२० और दूसरे १७२८० भेद मिलकर १८००० भेद मैथुन कर्म के दोषरूप भेद हैं; उनका अभाव सो शील है; उसे निर्मल स्वभाव अथवा शील कहते हैं।

नयः—निश्चय और व्यवहार।

निक्षेपः—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—यह चार हैं।

प्रमाणः—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

छठवीं ढाल का लक्षण संग्रह

अंतरंग तपः—शुभाशुभ इच्छाओं के निरोधपूर्वक आत्मा में निर्मल ज्ञान--आनन्द के अनुभव से अखण्डित प्रतापवन्त रहना; निस्तरंग चैतन्यरूप से शोभित होना।

अनुभवः—स्वोन्मुख हुए ज्ञान और सुख का रसास्वादन।

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावे विश्राम;
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याको नाम।

आवश्यकः—मुनियों को अवश्य करने योग्य स्ववश शुद्ध आचरण।

कायगुप्तिः—काया की ओर उपयोग न जाकर आत्मामें ही लीनता।

गुप्तिः—मन, वचन, काया की ओर उपयोग की प्रवृत्ति को भली भाँति आत्मभानपूर्वक रोकना अर्थात् आत्मामें ही लीनता होना सो गुप्ति है।

तपः—स्वरूपविश्रान्त, निस्तरंगरूपसे निज शुद्धतामें प्रतापवन्त होना-शोभायमान होना सो तप है। उसमें जितनी शुभाशुभ इच्छाओं का निरोध होकर शुद्धता वढती है वह तप है। अन्य वारह भेद तो व्यवहार (उपचार) तप के हैं।

ध्यानः—सर्व विकल्पों को छोडकर अपने ज्ञान को लक्ष्य में स्थिर करना सो ध्यान है।

नयः—वस्तु के एक अंश को मुख्य करके जाने वह नय है और वह उपयोगात्मक है ।—सम्यक् श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश वह नय है ।

निक्षेपः—नयज्ञान द्वारा वाधा रहितरूप से प्रसंगवशात् पदार्थ में नामादि की स्थापना करना सो निक्षेप है ।

परिग्रहः—परवस्तु में ममताभाव (मोह अथवा ममत्व) ।

परिषहजयः—दुःख के कारण मिलने से दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, किन्तु ज्ञातारूप से उस ज्ञेय का जाननेवाला ही रहे,—वही सच्चा परिषहजय है ।

प्रतिक्रमणः—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को निरवशेष रूप से छोडकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र को (जीव) भाता है, वह (जीव) प्रतिक्रमण है । (–नियमसार गाथा–९१)

प्रमाणः—स्व-पर वस्तु का निश्चय करनेवाला सम्यग्ज्ञान ।

वहिरंगतपः—दूसरे देख सकें ऐसे परपदार्थों से सम्बन्धित इच्छा–निरोध ।

मनोगुप्तिः—मन की ओर उपयोग न जाकर आत्मामें ही लीनता ।

महाव्रतः—निश्चय रत्नत्रयपूर्वक तीनों योग (मन, वचन, काया) तथा करने–कराने–अनुमोदन के भेद सहित हिंसादि पाँच पापों का सर्वथा त्याग ।

जैन साधु-(मुनि) को हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँचों पापों का सर्वथा त्याग होता है।

रत्नत्रयः—निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र।

वचनगुप्तिः—बोलने की इच्छा को रोकना अर्थात् आत्मा में लीनता।

शुक्लध्यानः—अत्यन्त निर्मल, वीतरागतापूर्ण ध्यान।

शुद्ध उपयोगः—शुभाशुभ राग-द्वेषादिसे रहित आत्मा की चारित्रपरिणति।

समितिः—प्रमाद रहित यत्नाचार सहित सम्यक् प्रवृत्ति।

स्वरूपाचरणचारित्रः—आत्मस्वरूपमें एकाग्रतापूर्वक रमणता-लीनता।

अन्तर-प्रदर्शन

(१) "नय" तो ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है और "निक्षेप" ज्ञेय अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है।

(२) प्रमाण तो वस्तु के सामान्य-विशेष समस्त भागों को जानता है किन्तु नय वस्तु के एक भाग को मुख्य रखकर जानता है।

(३) शुभ उपयोग तो बन्ध का अथवा संसार का कारण है, किन्तु शुद्ध उपयोग निर्जरा और मोक्ष का कारण है।

प्रश्नावली

१—अंतरंगतप, अनुभव, आवश्यक, गुप्ति, गुप्तियाँ, तप, द्रव्यहिंसा, अहिंसा, ध्यानस्थ मुनि, नय, निश्चय, आत्मचारित्र,

परिग्रह, प्रमाण, प्रमाद, प्रतिक्रमण, बहिरंगतप, भावहिंसा, अहिंसा, महाव्रत, पञ्च महाव्रत, रत्नत्रय, शुद्धात्म अनुभव, शुद्ध उपयोग, शुक्लध्यान, समिति और समितियों के लक्षण बतलाओ।

२—अघातिया, आवश्यक, उपयोग कायगुप्ति, छियालीस दोष, तप, धर्म, परिग्रह, प्रमाद, प्रमाण, मुनिक्रिया, महाव्रत, रत्न-त्रय शील, शेष गुण, समिति, साधुगुण और सिद्धगुण के भेद कहो।

३—नय और निक्षेप में, प्रमाण और नय में, ज्ञान और आत्मा में, शुभ उपयोग और शुद्ध उपयोग में अन्तर बतलाओ।

४—आठवीं पृथ्वी, ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थ छन्द, ग्रन्थ प्रकरण, सर्वोत्तम तप, सर्वोत्तम धर्म, संयम का उपकरण, शुचि का उपकरण और ज्ञान का उपकरण—आदि के नाम बतलाओ।

५—ध्यानस्थ मुनि, सम्यग्ज्ञान और सिद्ध का सुख आदिके दृष्टान्त बतलाओ।

६—छह ढालों के नाम, मुनिके पींछी आदि का अपरिग्रहपना, रत्नत्रय के नाम, श्रावक को नग्नता का अभाव आदि के सिर्फ कारण बतलाओ।

७—अरिहन्त दशा का समय, अन्तिम उपदेश, आत्मस्थिरता के समय का सुख, केशलोच का समय, कर्मनाश से उत्पन्न होने-वाले गुणों का विभाग, ग्रन्थ रचना का काल, जीव की नित्यता तथा अमूर्तिकपना, परिषहजय का फल, रागरूपी अग्नि की शान्ति का उपाय, शुद्ध आत्मा, शुद्ध उपयोग का विचार और दशा सकलचारित्र, सिद्धों की आयु और निवासस्थान तथा समय और स्वरूपाचरण चारित्रादि का वर्णन करो।

८—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र, चार गति, स्वरूपाचरणचारित्र, बारह व्रत, बारह भावना, मिथ्यात्व और मोक्षादि विषयों पर लेख लिखो।

९—दिगम्बर जैन मुनि का भोजन, समता, विहार; नग्नता से हानि-लाभ; दिगम्बर जैन मुनि को रात्रिगमन का विधि या निषेध, दिगम्बर जैन मुनि को घडी चटाई (आसन), या चष्मा आदि रखने का विधि या निषेध—आदि बातों का स्पष्टीकरण करो।

१०—अमुक शब्द, चरण और छन्द का अर्थ या भावार्थ कहो। छठवीं ढाल का सारांश बतलाओ।

इति कविवर पण्डित दौलतराम विरचित छहढाला के
गुजराती-अनुवाद का हिन्दी-अनुवाद

*** समाप्त ***